गढ़ रहा हो। ऐसे अनेक गढ़ अभी भी मिथिला में खंडहर के समान पड़े हैं। इनमें खोज करने से अभी अनेक प्राचीन सिक्के आदि मिलते हैं। यही ग्राम विद्यापति के पूर्वजों का तथा विद्यापति का भी वासस्थान अनेक दिनों तक रहा। अभी कुछ ही दिन पूर्व इनके वंशज उक्त ग्राम को छोड़कर मधुबनी के समीप सौराठ नामक ग्राम में आकर बस गए हैं।

विद्यापति के गुणों से लुब्ध महाराज मिथिलेश शिवसिंह ने इसी ग्राम को अपने राज्याभिषेक के अवसर पर कविवर को दान दे दिया था। यह दानपत्र ताँबे के एक बड़े पत्र मे खुदा हुआ है। इसी दानपत्र के बलपर विद्यापति के वंशजों ने १२५७ (फ़सली वर्ष) तक इस ग्राम को अपने आयत्त में रक्खा था, बाद को अगरेजी सरकार के सेटलमेंट-अफ़सरों ने दानपत्र को जाली समझकर उन लोगों से ग्राम छीन लिया। प्रायः इसी कारण विद्यापति के वंशज सौराठ चले आए। दानपत्र का लेख निम्नलिखित प्रकार है :—

स्वस्ति श्रीगजरथेत्यादिसमस्तप्रक्रियाविराजमान—श्रीमद्रामेश्वरीवरलब्धप्रसादभवानीभवभक्तिभावनापरायण— रूपनारायण-महाराजाधिराज—श्रीमच्छिवसिंहदेवपादाः समरविजयिनो जरैल-

---

का कथन है कि पजी-प्रबन्ध में 'विसपी' और 'गढ़ विसपी' ये दो विभिन्न मूल दिए गए हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् विद्यापति के पूर्वज धनी रहने के कारण किंवा अन्य किसी कारण से 'गढ़' नामक विसपी के विभाग को अलग समझते थे। ये 'ठाकुर' उपाधिधारी ग्रामोपार्जन करने ही से नहीं हुए, पूर्व भी इनके पूर्वज 'महथा' और 'महाराजाधिराज' कहलाते थे। ये सामन्त मध्ययुग के ज़मींदार थे।

तप्पायां विसपीग्रामवास्तव्यसकललोकान् भूकर्षकांश्च समादिशन्ति-ज्ञातमस्तु भवताम् । ग्रामोऽयमस्माभिः सप्रक्रियाभिनवजयदेव—महाराज-पण्डितठक्कुर—श्रीविद्यापतिभ्यः शासनीकृत्य प्रदत्तोऽतो ग्रामकस्था यूयमेतेषां वचनकरीभूकर्षकादिकर्म्म करिष्यथेति लक्ष्मणसेन सम्वत् २९३ श्रावण सुदि ७ गुरौ ।

श्लोकास्तु—

अब्दे लक्ष्मणसेनभूपतिमते वह्निग्रहद्व्यङ्किते (२९३ ल० सं०)
मासि श्रावणसंज्ञके मुनितिथौ पक्षेऽवलक्षे गुरौ ।
वाग्वत्याः सरितस्तटे गजरथेत्याख्याप्रसिद्धे पुरे
दित्सोत्साहविवृद्धबाहुपुलकः सभ्याय मध्येसभम् ॥१॥
प्रज्ञावान् प्रचुरोर्वरं पृथुतराभोगं नदीमातृकं
सारण्यं ससरोवरं च विसपीनामानमासीमतः ।
श्रीविद्यापतिशर्म्मणे सुकवये वाणीरसस्वादविद्-
वीरश्रीशिवसिंहदेवनृपतिर्ग्रामं ददे शासनम् ॥२॥
येन साहसमयेन शस्त्रिणा तुङ्गवाहवरपृष्ठवर्त्तिना ।
अश्वपत्तिबलयोर्बलं जितं गज्जनाधिपतिगौडभूभुजाम् ॥३॥
रौप्यकुम्भ इव कज्जलरेखा श्वेतपद्म इव शैवलवल्ली ।
यस्य कीर्त्तिनवकेतककान्त्या म्लानिमेति विजितो हरिणाङ्कः॥४

द्विषन्नृपतिवाहिनी रुधिरवाहिनी कोटिभिः
प्रतापतरुवृद्धये समरमेदिनी प्लाविता ।
समस्तहरिदङ्गनाचिकुरपाशवासःक्षमं
सितप्रसवपाण्डुरं जगति येन लब्धं यशः ॥५॥

मतङ्गगजरथप्रदः कनकदानकल्पद्रुमः
तुलापुरुषसद्भूतं निजधनैः पिता दापितः ।
अखानि च महात्मना जगति येन भूमीभुजा
परापरपयोनिधिप्रथममैत्रपात्रं सरः ॥६॥
नरपतिकुलमान्यः कर्णशिक्षावदान्यः
परिचितपरमार्थो दानतुष्टार्थिसार्थः ।
निजचरितपवित्रो देवसिंहस्य पुत्रः
स जयति शिवसिंहो वैरिनागेन्द्रसिंहः ॥७॥

ग्रामे गृह्णन्त्यमुष्मिन् किमपि नृपतयो हिन्दवोऽन्ये तुरुष्काः
गोकोलं स्वात्ममांसैः सहितमनुदिनं भुञ्जते ते स्वधर्मम् ।
ये चैनं ग्रामरत्नं नृपकररहितं पालयन्ति प्रतापैः
तेषां सत्कीर्त्तिगाथा दिशि दिशि सुचिरं गीयतां वन्दिवृन्दैः[१]**॥८॥**

विद्यापति के पूर्वजों का परिचय हमें अनेक प्रकार से प्राप्त है। कुछ तो इनके ग्रंथों से ही तथा कुछ मिथिला में प्रचलित 'पंजीप्रबंध' से। इनके पूर्वज सभी धुरंधर विद्वान् थे। सभों ने ग्रंथ-रचना की है। प्रायः ये लोग सभी मिथिला के भिन्न-भिन्न राजाओं के प्रधान कर्मचारी थे।

विद्यापति के वीजीपुरुष विष्णुठाकुर[२] थे। उनके पुत्र ठाकुर हरादित्य थे। इनके पुत्र कर्मादित्य थे। ये बड़े विद्वान् तथा कर्मठ थे।

---

[१] देखिए—"जर्नल ऑव् रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल"

[२] 'गढ़विसपी' सं० वीजी विष्णुशर्म्मा, विष्णुशर्म्मसुतो हरादित्यः, हरादित्यसुतः कर्म्मादित्यः, कर्म्मादित्यसुतौ सान्धिविग्रहिक-

प्रायः इन्होंने ऋक्, यजुः तथा साम वेद का अध्ययन किया था, जिसके कारण इन्हे 'त्रिपाठी' की उपाधि मिली थी। बाबू श्रीनगेन्द्रनाथ गुप्त का भी कहना है कि तिलकेश्वर नामक शिव के मठ में एक कीर्तिशिला है जिसपर कर्मादित्य का नाम खुदा हुआ है[1]। यह राजमंत्री थे। तत्कालीन मिथिला की रानी सौभाग्यदेवी की आज्ञा से प्रगन्ना पड़री में करेह नदी के किनारे प्रसिद्ध हावीडीह के ऊपर हैहट्टनाम की एक देवी का सिंहासन बनवाया था, जिसके पत्थर में खुदा हुआ है :—

अब्दे नेत्रशशाङ्कपक्षगदिते (२१२) श्रीलक्ष्मणक्ष्मापतेः
मासि श्रावणसंज्ञके मुनितिथौ स्वात्यां गुरौ शोभने।
हावीपट्टनसंज्ञके सुविदिते हैहट्टदेवीशिला
कर्म्मादित्यसुमन्त्रिणेह विहिता सौभाग्यदेव्याज्ञया[2] ॥

इसी से यह मालूम होता है कि लक्ष्मणसेन संवत् २१२ अर्थात् १३३१ खीस्ताब्द में कर्मादित्य वर्तमान थे। इन के दो पुत्र हुए—सांधिविग्रहिक अर्थात् संधि और विग्रह विभाग के मंत्री देवादित्य (उपनाम प्रसिद्ध शिवादित्य) तथा राजवल्लभ भवादित्य। देवादित्य राजा हरिसिंह

देवादित्य-राजवल्लभभवादित्यौ, देवादित्यसुताः पाण्डागारिक-वीरेश्वर, वार्तिकनैबन्धिक-धीरेश्वर, महामहत्तकगणेश्वर, भाण्डागारिक-जटेश्वर, स्थानान्तरिक-हरदत्त, मुद्राहस्तक-लक्ष्मीदत्त, राजवल्लभ शुभदत्ताः भिन्नमात्रिका—देखिए, जे० वी० ओ० ए०

[1] 'विद्यापति ठाकुरेर पदावली', भूमिका, पृ० १ (परिषद्; ग्रन्थावली संस्करण)

[2] 'पुरुषपरीक्षा', चन्दाझाका अनुवाद को टिप्पणी, प० २६३

देव के प्रधान मंत्री थे। इन्हों ने बहुत से तालाब खुदवाए, अनेक यज्ञ दानादि भी किए[१]।

देवादित्य बहुत प्रसिद्ध हुए। इनके तीन विवाह हुए। प्रथम स्त्री से १ला और ३रा, द्वितीय स्त्री से २रा और ४था, तृतीय स्त्री से ५वां, ६ठा और ७वा इस प्रकार देवादित्य के सात पुत्र हुए—(१) भांडागारिक वीरेश्वर, (२) महावार्त्तिक नैबंधिक धीरेश्वर, (३) महामहत्तक गणेश्वर, (४) भांडागारिक जटेश्वर, (५) स्थानांतरिक हरदत्त, (६) मुद्राहस्तक लक्ष्मीश्वर, (७) तथा राजवल्लभ शुभदत्त। ये सातों भाई मिथिला के प्रसिद्ध राजा कार्णाट-कुलालंकार हरिसिंह देव की सभा के प्रधान सभ्य थे। ये सब भिन्न-भिन्न राजविभागों के अध्यक्ष थे, यह इन के उपाधियों ही से विदित होता है।

इन में सब से ज्येष्ठ वीरेश्वरठाकुर थे। इनके बनाए हुए एकमात्र ग्रंथ 'छंदोगपद्धति' से लोग परिचित हैं जो आज भी मिथिला के वैवाहिक संस्कारों के लिए प्रामाणिक समझा जाता है। इस के आदि में ग्रंथकार ने लिखा है—

देवादित्यकुले जातः ख्यातस्त्रैलोक्यसंसदि।
पद्धतिं विदधे धीमान् श्रीमान् वीरेश्वरः स्वयम्[२]॥

अंत में भी लिखा है—'इति सप्रक्रियमहावार्त्तिकनैबंधिकठक्कुर श्रीवीरेश्वरविरचिता छंदोगपद्धतिः समाप्ता[३]॥

[१] 'कृत्यरत्नाकर', श्लोक ७,-८; पृ० २—३
[२] मिथिला हस्तलिखित पुस्तकों की सूची, जिल्द १, प०, १२२
[३] वही।

अपने पिता के समान वीरेश्वर भी राजसभा में पूर्ण आदृत थे, और अपनी बुद्धि के बल शत्रुओं को हरा कर इन्हों ने राज्य को निष्कटक बना दिया था। इन्होंने दहिमत नामक ग्राम में एक बहुत विस्तृत तालाब खुदवाया और वहीं अपने रहने के योग्य एक सुंदर भवन भी बनवाया था। इन्होंने बहुत से महादान किए और दरिद्र तथा योग्य ब्राह्मणों को पूर्ण दान दिए। रामपुर आदि अच्छे ग्राम श्रोत्रियों को दिए। विद्वानों की मंडली में सर्वदा इनकी प्रशंसा होती थी। यह दिगंत-प्रसिद्ध धुरंधर विद्वान् थे[1]।

---

[1] (क) गुणाम्भोधेरस्मादजनि रजनीजानिरुदधे-
रिवाम्भोजाद्देवो द्रविण इव मन्त्रीशतिलकः।
नवं पीयूषांशोरमृतमिव शक्तिप्रणयिनो
नयादर्थः श्लाघ्यादिव जगति वीरेश्वर इति ॥

—'कृत्यरत्नाकर', श्लो० ९

(ख) लक्ष्मीभाजो द्विजेन्द्रानकृतकृतमतिर्यो महादानदानैः
प्रादत्तोच्चैस्तु रामप्रभृतिपुरवरं शासनं श्रोत्रियेभ्यः।
वापीं चक्रेऽब्धिबन्धुं दहिमतनगरे निर्जितारातिदुर्गः
प्रासादस्तेन तुङ्गो व्यरचि सुकृतिना शुद्धसोपानमार्गः ॥

—'कृत्य०', श्लो० १०

(ग) यः सन्धिविग्रहविधौ विविधानुभावः
शौर्य्योदयेन मिथिलाधिपराज्यभारम्।
निर्मत्सरं सुनयसञ्चितकोषजातं
सप्ताङ्गसङ्घटनसम्भृतमेव चक्रे ॥

—'कृत्य०', श्लो० ११

महावार्त्तिक नैबंधिक धीरेश्वरठाकुर भी अपने भाई के समान विद्वान् थे। ये भी राजविभाग के प्रधानों मे गिने जाते थे। यद्यपि इन के बनाए हुए किसी भी ग्रथ का पता अभी तक नहीं लगा है तथापि इन के 'नैबंधिक' उपाधि से यह स्पष्ट मालूम होता है कि इन्हो ने भी कोई धार्मिक निबंध अवश्य रचा होगा, जिस के पांडित्य से मुग्ध हो कर राजा ने इन्हे भी नैबंधिक तथा महावार्त्तिक की उपाधिओ से भूषित किया था।

इन से छोटे महामहत्तक गणेश्वरठाकुर थे। यह भी राजमंत्री थे और लोकप्रिय होने के कारण लोगो से राजा के समान आदृत होते थे। ये अपने प्रताप से सुल्तान को नीचा दिखाते हुए तीरभुक्ति का शासन करते थे। प्रायः इन्हीं कारणों से लोग इन्हे महासामंताधिपति[1] तथा महाराजाधिराज[2] भी कहा

(घ) प्रज्ञावतां सदसि संसदि वाक्पटूनां
राज्ञां सभासु परिषत्स्वपि मन्त्रभाजाम्।
चित्तेऽर्थिनाञ्च कवितास्वपि सत्कवीनां
वीरेश्वरः स्फुरति विश्वविलासकीर्त्तिः ॥

—'कृत्य०', श्लो० १२

(ङ) मिथिला ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० २०८, ५०८

[1-2] अभूद्देवादित्यः सचिवतिलको मैथिलपते—
र्निजप्रज्ञाज्योतिर्दलितरिपुचक्रान्धतमसः।
समन्तादश्रान्तोल्लसितसुहृदर्कोपलमणौ
समुद्भूते यस्मिन् द्विजकुलसरोजैर्विकसितम् ॥१॥
अस्मान्महादानतडागयागभूदानदेवालयपूतविश्वो
वीरेश्वरोऽजायत मन्त्रिराजः क्ष्मापालचूडामणिचुम्बिताङ्घ्रिः ।

करते थे। ये बड़े धुरंधर विद्वान् थे, इसी कारण इन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि भी मिली थी[1]। ये आगमशास्त्र में बड़े निपुण थे[2]। इन्हों ने अनेक

लसन्महीपालकिरीटरत्नरोचिच्छटारञ्जितपादपद्मः
अस्यानुजन्मा गुणगौरवेण गणेश्वरो मन्त्रिमणिश्चकास्ति ॥२॥
संशोषयन्ननिशमौर्वनिभप्रतापैर्गौडावनीपरिवृढं सुरतानसिन्धुं
धर्म्मावलम्बनकरः करुणार्द्रचेता यस्तीरभुक्तिमतुलामतुलं
प्रशास्ति ॥३॥

श्रीमानेष महामहत्तकमहाराजाधिराजो महा-
सामन्ताधिपतिर्विकस्वरयशःपुष्पस्य जन्मद्रुमः।
चक्रे मैथिलनाथभूमिपतिभिः सप्ताङ्गराज्यस्थितिं
प्रौढानेकवशम्वदैकहृदयो दोःस्तम्भसम्भावितः ॥४॥

—'सुगतिसोपान'—मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० ५०५–५०६

[1]यह उपाधि यद्यपि आजकल सरकार की तरफ़ से मिलती है किंतु पूर्व में अध्यापक को 'उपाध्याय' कहते थे (इसी का अपभ्रंश आजकल 'ओझा' तथा 'झा' हो गया है), जब उपाध्याय के पढ़ाए हुए विद्यार्थी अध्यापक होकर 'उपाध्याय' हो जाते थे तो उनके गुरु 'महोपाध्याय' कहलाने लगते थे, जैसे अनेक काव्यों के टीकाकार मल्लिनाथ थे; एवं उक्त उपाध्याय के शिष्य के शिष्य जब पढ़ाने लगते थे तब क्रमशः परमगुरु 'महामहोपाध्याय', गुरु 'महोपाध्याय' तथा स्वयं 'उपाध्याय' कहलाने लगते थे। यही त्रिभाग प्राचीनकाल में था। इसके अनुसार गणेश्वर रचित 'आह्निकोद्धार' के अंत में लिखा है—'इति महामहोपाध्यायमहामहत्तकश्रीगणेश्वर-विरचिते वाजसनेय्याह्निकोद्धारः समाप्तः'—मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० ३६

[2]महामहत्तकः श्रीमानागमज्ञो गणेश्वरः—वही

और एक मूर्ख की याचना की। मित्र का पत्र पा कर हरिसिंहदेव चिंतित हो गए कि किस को किस को भेजूँ। राजा को चिंतित देख मंत्री गणेश्वर ने कहा कि महाराज! आप चिंता न करें। यह पत्र केवल आप के मंत्री की (अर्थात् मेरी) बुद्धि की परीक्षार्थ भेजा गया है। यह तो विचारिए, देवगिरि नामक राज्य में कौन सा वस्तु दुर्लभ है। मूर्ख और विद्वान् सभी वहाँ भी अवश्य हैं। इस लिए आप इस पत्र के उत्तर मे यह लिख दीजिए कि पंडित तो न मेरे राज्य में न आप के (अर्थात् देवगिरि) राज्य में देख पड़ते हैं। बुद्धि का फल तो आत्मज्ञान है इस लिए बुद्धिमान् पुरुष इन सांसारिक व्यवहार में तन्मय स्थानों में क्यों कर रहेगे। ये तो प्रायः काशी या अन्य किसी पुण्यतीर्थ में या किसी निर्जन पर्वत के कन्दरो में समाधि में लीन मिलेंगे। अतः इन्हीं स्थानों में पंडित के लिए खोज करनी चाहिए। मूर्ख तो सभी स्थानों में अनायास मिलते हैं। अतएव तुच्छ मूर्ख को भेज कर क्या लाभ होगा। मैं केवल मूर्ख को पहचानने के चिन्ह मात्र लिख भेजता हूँ—

सुन्दर कर सुन्दर चरण, दइव सुसम्पति पाव।
जनिकर निन्दा लोक में, से पुन मूर्ख कहाव॥
पाओल मानुषजन्मकाँ, पुण्य न संचित भेल।
शुद्ध सुयश जनिकर न पुन, मूर्ख कोटि में गेल॥

इस उत्तर को पाकर राजा और उनके सभासद गणेश्वर सहित हरिसिंहदेव की बड़ाई करने लगे। इसी समय किसी कवि ने कहा था—

मन्त्रि गणेश्वर गुण सकल, जे गुणि गणथि उदार।
से समुद्रघट नाओ पर, श्रम विनु उतरथि पार॥

ग्रंथ लिखे, जिन में से (१) 'आह्निकोद्धार वाजसनेयि'[1], (२) 'गंगापत्तलक' (गंगा नदी के संबंध में)[2] (३) तथा 'सुगति-सोपान', जिसमें वैतरणीदान से ले कर सपिण्डीकरण-पर्यंत की श्राद्ध-क्रिया बतलाई गई है[3]। इन्हें कविवर विद्यापतिठाकुर ने 'साख्य-सिद्धांतपारगामी' और 'दण्डनीतिकुशल' भी बतलाया है[4]। ये बड़े चतुर थे। इन की चतुरता के संबंध में विद्यापति ने निम्नलिखित एक सच्ची घटना का उल्लेख किया है[5], जिसका मैं अपने पाठकों के विनोदार्थ यहां उल्लेख करता हूँ—

देवगिरि स्थान में वामदेव नामक एक राजा रहते थे। ये मंत्री गणेश्वर के गुण गान सुन कर लुब्ध हो गए और गणेश्वर के संरक्षक महाराज हरिसिंहदेव से इन्हों ने मैत्री कर ली जिस में भविष्य में हरिसिंहदेव के मित्र होने के कारण गणेश्वर इन की भी सहायता करें। एक समय राजा वामदेव ने एक पत्र द्वारा महाराज हरिसिंहदेव से उपहार स्वरूप एक पंडित

---

[1] मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० ३६–३७

[2] वही, पृ० ८४–८६

[3] मि० ह० पु० सूची, पृ० ५०५-५०६। इस ग्रन्थ की एक प्रति नेपाल में भी २२४ ल० सं० की लिखी है।

[4] 'पुरुषपरीक्षा'—सुबुद्धिकथा, पृ० ६७ (दरभंगा संस्करण)

[5] वही।

लौकिक वैदिक कार्ज में, यावत नहिं विज्ञत्व।
तावत एहन हुनक कत, विधु सम यशो महत्व[१] ॥

इन के अतिरिक्त वीरेश्वर के और जो चार भाई थे उन के संबन्ध में केवल इतना ही अभी ज्ञात है कि ये सब पूर्ण विद्वान् थे और हरिसिंहदेव के सभा के प्रधान गण्यमान पुरुष थे। धीरेश्वर नैवन्धिक थे, जटेश्वर भण्डारी थे, हरदत्त लोगों के स्थान परिवर्तनादि के अधिकारी थे और शुभदत्त साधारण राजसभा के मुसाहेब थे।

वीरेश्वर ठाकुर के दो पुत्र थे—एक रत्नाकरग्रंथो के रचयिता मन्त्रिवर चंडेश्वर नाम से प्रसिद्ध धर्मशास्त्र के बहुत बड़े विद्वान् हुए। अपने पिता के बाद मैथिलराजा हरिसिंहदेव के यह सन्धि और विग्रह के प्रधान मंत्री बनाए गए। इन के प्रयत्न से राजा हरिसिंहदेव ने नेपाल तथा अन्य दुर्गम स्थानो पर अपना आधिपत्य प्राप्त किया और पशुपतिनाथ महादेव के मंदिर तक पहुँचे। यह कहा जाता है कि नेपालियों के अतिरिक्त केवल यही प्रथम ब्राह्मण थे जिन्होंने उन दिनो पशुपतिनाथ का स्पर्श किया तथा उनकी[२] पूजा की। इन्होंने भी अनेक महादान किए तथा ब्राह्मणों को पूर्ण दान दिए। १३१५ ईस्वी में इन्हों ने

---

[१] यह संस्कृत भाषा में लिखित श्लोकों का मैथिली भाषा में अनुवाद है।

[२] (क) नेपालं गिरिदुर्गमं भुजबलादुन्मूल्य तद्भूपतीन्,
सर्वान् राघववंशजान् रविरिपोस्तुल्यः प्रतापानलैः।
देवं विश्ववरप्रदं पशुपतिं संस्पृश्य योऽपूजयत्।
केषां नैष धरातले स्तुतिपदं मन्त्रीन्द्रचण्डेश्वरः॥

वाग्मती नदी के किनारे सोने से 'तुलापुरुष' नामक महादान किया था[1]। अनेक शास्त्रों के यह विद्वान् थे। धर्मशास्त्र में तो इन के समान प्रायः उन दिनों कोई भी नहीं था। इन्होंने सात प्रधान निबन्ध लिखे—'व्यवहाररत्नाकर', 'कृत्यरत्नाकर', 'दानरत्नाकर', 'शुद्धिरत्नाकर', 'पूजारत्नाकर', 'विवादरत्नाकर', तथा 'गृहस्थरत्नाकर'। इनके अतिरिक्त 'राजनीतिरत्नाकर'[2] तथा 'शैवमानसोल्लास'[3] भी इन्हीं के बनाए हुए ग्रन्थ हैं। ये ग्रंथ सब मिथिला में तो आदृत होते ही हैं किंतु अन्यत्र भी, यहाँ तक कि न्यायालयों में भी पूर्ण सम्मानित होते हैं। चंडेश्वर ने इतने बड़े विद्वान् होने पर भी अपनी मातृभाषा 'मैथिली भाषा' का अनादर कभी न किया। अपने 'रत्नाकरों' में जहाँ

(ख) एष मैथिलमहीभुजा भुजद्वन्द्ववारितसमस्तवैरिणा।
श्रीविधायिनि कुलक्रमागते सन्धिविग्रहपदे पुरस्कृतः॥
इनके अतिरिक्त औरभी श्लोक 'कृत्यरत्नाकर' में देखिए।

[1] रसगुणभुजचन्द्रैः सम्मिते शाकवर्षे (१२३६)=१३१५ ईस्वी।
सहसि धवलपक्षे वाग्वतीसिंधुतीरे।
अदिततुलितमुच्चैरात्मना स्वर्णराशिं
निधिरखिलगुणानामुत्तमः (?) सोमनाथः॥
—'दानरत्नाकर', हस्त० नं० २०६६, डा० राजेन्द्रलालमित्र की सूची।

[2] 'बिहार एंड ओरिस्सा रिसर्च सोसाइटी जर्नल' में छपा हुआ है।

[3] मिथिला हस्तलिखित पुस्तक-सूची, जिल्द १, पृष्ठ ४५५-५६

कही उन्हे अपरिचित संस्कृत शब्द का प्रयोग करना पड़ा तुरंत उन्होंने उन्हे समझाने के लिए उन शब्दों का अर्थ 'मैथिली' में भी दिए हैं। ऐसे शब्द लगभग एक सौ से अधिक अभी तक मिले हैं[1]। इनके सन्तानों का नाम 'पंजी' में नहीं है, इनके बाद प्रायः इनकी शाखा लुप्त हो गई।

देवादित्य के दूसरे पुत्र गणेश्वरठक्कुर के दो पुत्र हुए। प्रथम रामदत्त ठाकुर थे। यह भी द्वितीय नृसिंहदेव के साधिविग्रहिक मंत्री तथा राजपंडित थे। इनके बनाए हुए अभी तीन ग्रंथ मुझे मालूम हैं—(१) 'उपनयन-पद्धति', (२) वाजसनेयि 'विवाहादिपद्धति', तथा (३) 'शूद्रश्राद्धपद्धति'[2]। प्रथम दो ग्रंथ तो अनेक बार मुद्रित हो चुके हैं। इन्हीं के आधार पर आज कल मिथिला मे उपनयनादि संस्कार होते हैं। यह भी महामहोपाध्याय[3] थे। पुरुषपरीक्षा के 'सुबुद्धिकथा' मे इनका ही उल्लेख है। परन्तु इनके भी वंश का उल्लेख बाद को 'पंजी' में नहीं दिया गया है। इससे मालूम होता है कि इनका वंश आगे नहीं चला।

इनके छोटे भाई गोविंददत्त के संबंध मे केवल इतना ही मुझे मालूम है कि इन्होंने 'गोविंदमानसोल्लास' नामक विष्णुभक्ति-संबंधी एक पुस्तक लिखी थी। इन्होंने अपने को गुणी अर्थात् विद्वान्, नयसागर (अर्थात् नीतिकुशल)

---

[1] श्रीउमेशमिश्र—'चंडेश्वर ठाकुर ऐंड मैथिली'।
—एलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़, जिल्द ४, पृ० ३५२-३५६; 'इण्डियन लिंग्विस्टिक्स,' १९३९।

[2] मि० ह० पु० सूची०, जिल्द १, पृ० ४५२।

[3] वही।

तथा हरिकिंकर[1] बतलाया है। प्रायः किसी राजदरबार में यह नहीं थे ऐसा मालूम पड़ता है।

देवादित्य के तृतीय पुत्र धीरेश्वरठाकुर के भी दो पुत्र थे—कीर्त्तिठाकुर तथा जयदत्तठाकुर। इनके संबंध की कथाएँ अभी भी अन्धकार में पड़ी हुई हैं। सात भाइयों में केवल धीरेश्वर ही का वंश आगे बढ़ा। जयदत्त के भी दो पुत्र हुए—गौरीपति तथा गणपति और एक कन्या हुई। गणपतिठाकुर बड़े भाग्यवान् पण्डित थे। यह उस गणपतिठाकुर से जिन्होंने भाट्टमत-मीमांसा का पूर्ण अध्ययन किया था[2] और जिनका बनाया हुआ केवल एक मात्र ग्रंथ 'गंगाभक्तितरंगिणी' हम लोगो को मिला है, भिन्न हैं। क्योंकि उक्त ग्रंथ में विद्यापति की तथा इनसे भी अभिनव विद्वानो की सम्मति पाई जाती है। यह मिथिलेश महाराज कुमार गणेश्वर के सभापण्डित थे।

गणपतिं ठाकुर के एकमात्र पुत्र मैथिलकविकुलचूड़ामणि महामहोपाध्यायः

---

[1] तस्यात्मजेन गुणिना नयसागरेण
गोविन्ददत्तकृतिना हरिकिंकरेण।
येनामुना जनयता जनतानुरागं
लोकत्रयं धवलितं विमलैर्यशोभिः॥

—'गोविन्दमानसोल्लास', मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० १०७-१०९

[2] सद्विद्याकुलयोर्विशेषमखिलं विज्ञाय नान्यो ददौ,
वृत्तिं यस्य पितामहाय मिथिलाभूमण्डलाखण्डलः।

विद्यापतिठाकुर हुए[1]। इनके मातृवंश के पंजी से मालूम होता है कि गणपतिठाकुर ने 'बुधवारएमूलक' श्रीकर नामक' ब्राह्मण की कन्या 'गाङ्गोदेवी' (=गंगादेवी) से विवाह किया और इन्हीं से महाकवि का जन्म हुआ। इनका जन्म किस वर्ष में हुआ था, इसका अभी तक कोई विशेष प्रमाण नहीं मिला है। किंतु कतिपय घटनाओं के आधार पर, जिनका वर्णन नीचे किया जायगा, यह कहा जाता है कि २४१ लक्ष्मणसेन संवत् में इनका जन्म हुआ था।

जैसा कि आगे चल कर मालूम होगा विद्यापति का जीवन मिथिला के अनेक राजाओं के जीवन के साथ सम्बद्ध है और इन्हीं राजाओं के समय आदि की आलोचना ही से विद्यापति के जीवन की घटनाएँ भी मालूम होती हैं। अतः यहाँ पर संक्षेप में मिथिला के उन राजाओं का क्रमिक उल्लेख करना अधिक आवश्यक है जिनके दरबार में कवि ने अपना सारा जीवन व्यतीत किया था।

श्रीधीरेश्वरसूनुरन्वहमसावभ्यस्य भाट्टं मतं.
गंगाभक्तितरंगिणीं गणपतिर्ब्रूते सतां प्रीतये ॥
—मि० ह० पु० सूची, जि० १, पृष्ठ ८८, तथा
गं० भ० त०, पृ० १, (दरभंगा संस्करण)।

[1] 'जन्मदाता मोर गणपतिठाकुर, मिथिला देश करु वास।
पंच गौड़ाधिप सिवसिंह भूपति, कृपाकरि लेल निज पास ॥'
—किम्वदन्ती है कि यह विद्यापति की अपनी उक्ति है।

विद्यापति-समकालीन मिथिला के राजाओं का अति-संक्षिप्त विवरण

सबसे प्रथम मिथिला के ऐतिहासिक राजा नान्यदेव थे। किसी कारण कार्णाट देश को छोड़ १०१९ शाके-अर्थात् १०९७ ईस्वी में इन्होंने सीतामढ़ी रेलवे स्टेशन से कुछ आगे कोइली नानपुर ग्राम के समीप सिमराँवगढ में अपनी राजधानी बनाई। इसी स्थान पर नान्यदेव तथा इनके वंशजों ने लगभग २२९ वर्ष राज्य किए। इनके बाद मिथिला का राज्य मैथिल ब्राह्मणों के आधिपत्य में आया।

ये मैथिल ब्राह्मण ओइनी ग्राम के उपार्जक थे और इसी लिए ये सब 'ओइनिवार' ब्राह्मण कहलाते थे। यह 'ओइनिवार' या 'ओइनी' वंश बहुत ही प्रसिद्ध है। इस वंश के लोग ब्राह्मण पंडित होते हुए भी युद्धक्षेत्र में शत्रुओं के साथ बड़ी वीरता से लड़ने वाले हुए[1]। उन दिनों सुल्तान फ़ीरोज शाह (१३५१-८८) के अधीन मिथिला का राज्य हो गया था। सब से पहले ओइनी ग्रामोपार्जक नाहठाकुर के अतिवृद्धप्रपौत्र राजपंडित सिद्ध कामेश्वर को राज्य दिया गया[2]। किंतु उन्होंने राज्य को अपनी तपस्या में विघ्नस्वरूप जान कर उसे स्वीकार नहीं किया। अतः उनके ज्येष्ठ पुत्र भोगीश्वरठाकुर

---

[1] ओइनो वंस पसिद्ध जग को तसु करइ न सेव।
दुहु एक्कत्थ न पाविअइ भुअवइ अरु भूदेव॥
—'कीर्तिलता', पल्लव १

[2] ताकुल केरा वड्डिपन कहवा कओन उपाए।
जज्जम्मिअ उप्पन्नमति कामेसर सन राए॥
'कीर्तिलता', पल्लव १

को राज्य मिला[1]। इन्होंने बड़े गौरव के साथ लगभग ३३ वर्ष मिथिला का राज्य किया। सन् १३६० ईस्वी में राजा भोगीश्वरठाकुर मर गए। यह सुल्तान के बड़े प्रिय थे[2]। महाराज कामेश्वरठाकुर के द्वितीय पुत्र भवसिंह उपनाम भवेश्वरसिंह थे। भोगीश्वर के बाद इन के पुत्र गणेश्वर राजा हुए और कुछ राज्य का हिस्सा भवसिंह को भी मिला। इसलिए एक प्रकार से राज्य विभक्त हो कर इन दोनों के हाथ बट गया और ये दोनों राजा बन बैठे।

राजा गणेश्वर नीतिनिपुण थे और राजा के सभी गुणों से युक्त थे। यह बड़े दानी, मानी, बली, यशस्वी तथा स्वरूपवान् थे[3]। इन्हों ने लगभग ११

---

[1] तसु नन्दन भोगीसराअ वर भोग पुरन्दर
हुअ हुआसन तेजिकन्ति कुसुमाउँह सुन्दर।
जाचक सिद्धि केदार दान पञ्चम बलि जानल॥
—'कीर्तिलता', पल्लव १

[2] पिअसख भणि पिअरोजसाह सुरतान समानल।
—'कीर्तिलता', पल्लव १

[3] तासु तनअ नअ विनअ गुन गरुअ राए गएनेस।
जे पट्ठाइस दसओ दिस किन्तिकुसुम संदेस॥
दान गरुअ गएनेस जेन जाचक मन रञ्जिअ।
मान गरुअ गएनेस जेन रिउ वड्डिम भञ्जिअ॥
सत्ते गरुअ गएनेस जेन तुलिअओ आखण्डल।
किन्ति गरुअ गएनेस जेन धवलिअ महिमण्डल॥

वर्ष तक मिथिला का राज्य किया। इसी अवसर पर अग्रहायण कृष्ण ५ मंगल, लक्ष्मण सेन संवत् २५२ (१३७१ई०) को असलान नाम का एक 'तुरुक' ने राज्य के लोभ से गणेश्वर को पहले अपना विश्वास दिला कर अंत में मार डाला[1]। किंतु फिर भी असलान को राज्य नहीं मिल सका। गणेश्वर के तीन वीर पुत्र थे—वीरसिंह, कीर्त्तिसिंह और राजसिंह[2]। जौनपुरेश्वर इब्राहीम शाह की सहायता से मलिक असलान को मार भगा कर इन्होंने फिर से मिथिला का राज्य अपने अधीन किया[3]। प्रायः वीरसिंह इसी लड़ाई में मारे गए

लावन्ने गरुअ गएनेस पुनु देक्खि सभासई पंचसर।
भोगीस तनअ सुपसिद्ध जग गरुअ राए गएनेस वर॥

—'कीर्तिलता', पल्लव १

[1] लक्खणसेन नरेश लिहिअ जवे पक्ख पंच वे।
तम्महु मासहि पढम पक्ख पञ्चमी कहिअ जे॥
रज्जलुद्ध असलान बुद्धि विक्कम वले हारल।
पास बइसि विसवासि राए गएनेसर मारल॥

—'कीर्तिलता', पल्लव २

[2] सिरि अह्म सहोअर राअसिंह
—'कीर्तिलता', पृ० ७५ (काशी ना० प्र० सभा संस्करण)

[3] महराअन्हि मल्लिकें चप्पि लिऊँ।
असलान निआन हु पिट्ठि दिऊँ॥

—'कीर्तिलता', पल्लव ४

और इसीलिए इब्राहीम शाह ने लड़ाई के बाद कीर्त्तिसिंह को राजा बनाया [१]। कीर्त्तिसिंह बड़े प्रतापी राजा हुए। इन्हीं का वर्णन कवि विद्यापति ने अपनी 'कीर्त्तिलता' में किया है।

न तो कीर्त्तिसिंह के, न वीरसिंह के और न राजसिंह ही के कोई संतान हुई। अत एव मिथिला का राज्य कीर्त्तिसिंह के पितामह-भ्रातृपुत्र देवसिंह के अधिकार में आया। देवसिंह महाराज भवसिंह की दूसरी स्त्री के पुत्र थे। भवसिंह की तीन रानियां थीं। प्रथम स्त्री से उदयसिंह, द्वितीय से देवसिंह तथा त्रिपुरासिंह तथा तीसरी से हरसिंह हुए। राजा भवसिंह ने भी बड़े पराक्रम के साथ राज्य किया। शत्रुओं को जीत कर नाना प्रकार के यज्ञ कर ब्राह्मणों को विविध दान दिए। अंत में वाग्वती नदी के पवित्र तट पर शिवमूर्त्ति के समीप भवसिंह ने अपने शरीर को त्याग दिया [२]। इनकी दो रानियाँ इनके साथ सती हो गईं। विद्यापति ने अपने 'शैवसर्वस्वसार' में लिखा है कि राजा भवसिंह का प्रताप इतना बढ़ा-चढ़ा था कि जितने छोटे-छोटे राजा उन दिनों थे, वे सब उन के चरण स्पर्श

[१] बन्धवजन उच्छाह कर तिरहुति पाइअ रूप।
पातिसाह जसु तिलक करु कित्तिसिंह भउँ भूप॥
—'कीर्तिलता', पल्लव ४

[२] भुक्त्वा राज्यसुखं विजित्य हरितो हत्वा रिपून् संगरे
हुत्वा चैव हुताशनं मखविधौ भृत्वा धनैरर्थिनः।
वाग्वत्यां भवदेवसिंहनृपतिस्त्यक्त्वा शिवाग्रे वपुः
पूतो यस्य पितामहः स्वरगमद्वारद्वयालंकृतः॥
—'पुरुषपरीक्षा' के अंत में।

करते थे[1]। इस में कोई संदेह नहीं कि कवि ने अपने वर्णन में अत्युक्ति की है तथापि विना किसी अंश के सत्य हुए अत्युक्ति भी नहीं की जा सकती।

इनके प्रथम पुत्र उदयसिंह निस्संतान मर गए। त्रिपुरासिंह के दो पुत्र सर्वसिंह तथा अर्जुनसिंह हुए। इनके कोई संतान न हुई। हरसिंह के चार पुत्र थे—नरसिंह (उपनाम दर्पनारायण), रत्नेश्वरसिंह, राजा रघुसिंह (उपनाम विजयनारायण) तथा कुमार ब्रह्मसिंह (उपनाम हरिनारायण)। इन में केवल नरसिंह का वंश चला और अन्य तीनों निस्संतान ही परलोक चले गए।

प्रायः महाराज भवसिंह की मृत्यु के समय ये सब बहुत छोटे थे अथवा किसी और कारण से उनकी मृत्यु के बाद देवसिंह राज्य करने लगे। इन्होंने अपना उपनाम 'गरुड़-नारायण' रक्खा था। इन्होंने ओइनी राजधानी को छोड़कर दरभंगा के समीप देवकुली नाम की राजधानी अपने नाम पर बसाई[2]। इन्होंने अनेक बड़े-बड़े तालाब खुदवाए जिन में सब से बड़ा सकुरी ओ० टी० रेलवे स्टेशन के पास है। याचक-ब्राह्मणों को इन्होंने ऐसे-ऐसे दान दिए, जो और दूसरा कोई नहीं दे सका था। इन्होंने सोने का तुलापुरुष दान कर ब्राह्मणों को बाँट दिया था। हाथी,

---

[1] गङ्गोत्तुङ्गतरङ्गितामललसत्कीर्तिच्छटाक्षालित—
क्षोणीक्ष्मातलसर्वपर्वतवरो वीरव्रतालङ्कृतः।
भूपालावलिमौलिमण्डलमणिप्रत्यर्चिताङ्घ्रिद्वया-
म्भोजश्रीभवसिंहभूपतिरभूत् सर्वार्थकल्पद्रुमः॥

[2] 'इंडियन एंटिक्वेरी', पृ० ५७, जिल्द २८, १८९९; हिस्ट्री आव् तिरहुत', पृ० ७२

घोड़े, रथ आदि का तो कहना ही क्या था[१]। अपने पूर्वजों की तरह यह भी बड़े पराक्रमी तथा युद्ध में शत्रुओं को जीतने वाले थे[२]। यह बड़े गुणी भी थे[३] और गुणवानों का आदर करते थे। इन के समय में विद्यापति ने भाषा में बहुत सी कविताएँ और संस्कृत में 'भूपरिक्रमा' नामक ग्रंथ लिखा था[४]।

---

[१](क) सक्कुरीपुरसरोवरकर्त्ता हेमहस्तिरथदानविदग्धः

—'पुरुषपरीक्षा' के अंत में।

(ख) दत्तं येन द्विजेभ्यो द्विरदमथमहादानमन्यैरशक्यं
का वार्त्ता त्वन्यदाने कनकमयतुलापूरुषो येन दत्तः।
यस्य क्रीडातडागस्तुलयति सततं शासने वारिराशिं
देवोऽसौ देवसिंहः क्षितिपतितिलकः कस्य न स्यान्नमस्यः॥

—'शैवसर्वस्वसार' में विद्यापति।

[२](क) भाति यस्य जनको रणजेता देवसिंहनृपतिः।

—'पुरुषपरीक्षा' का अन्त।

(ख) दृप्यद्दुर्वारवैरिद्विपकुलदलनाकण्ठकण्ठीरवश्रीः। इत्यादि

—'शैवसर्वस्वसार'।

[३] वही।

[४] देवसिंहनिदेशाच्च नैमिषारण्यवासिनः।
शिवसिंहस्य पितुः सुतपीडनिवासिनः॥
पञ्चषष्टिदेशयुतां पञ्चषष्टिकथान्विताम्।
चतुःखण्डसमायुक्तामाह विद्यापतिः कविः॥

—'भूपरिक्रमा'—हिस्ट्री आव् तिरहुत, पृ० ७१।

और भी कितने ग्रंथ इन के आधिपत्य में रचे गए[1]। यह सभी के बड़े प्रियपात्र राजा थे। ल० सं० २९३, शाके १३२४, तथा १४०२ ईस्वी में चैत्र कृष्ण (तिथि ६) बृहस्पतिवार, ज्येष्ठा नक्षत्र में गंगा के किनारे इन्होंने अपनी ऐहिक लीला समाप्त की[2]। इनकी स्त्री का नाम हासिनी देवी था। विद्यापति ने इन दोनों के नाम पर भी कविताएं बनाई[3]।

महाराज देवसिंह के दो पुत्र थे—शिवसिंह तथा पद्मसिंह। शिवसिंह ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण पिता के बाद राजा बने। इन्होंने अपना उपनाम 'रूपनारायण' रक्खा था। देवकुली से हटाकर इन्होंने अपनी राजधानी गजरथपुर उपनाम 'शिवसिंहपुर' में स्थापित की। इनका जन्म ल० सं० २४३ अर्थात्

श्यामनारायणसिंह, 'हिस्ट्री आव् तिरहुत', पृ० ७१।

अनलरन्ध्रकर (२९३) लक्खण णरवइ सक्क समुद्द कर
अगिनि ससी (१३२४)।
चैतकारि छठि जेठा मिलिओ वार वेहप्पइ जाउलसी॥
देवसिंह जी पुहमी छड्डइ अद्धासन सुरराअ सरू।
....
सतवले गंगा मिलित कलेवर देवसिंह सुरपुर चलिओ
—विद्यापति।

(क) देवसिंह नृपनागर रे, हासिनि देवि कन्त
—'विद्यापति', प० सं० ३१ खगेन्द्रनाथ (नरेन्द्रनाथ से)।
(ख) हासिनिदेविपति देवसिंह नरपति गरुडनारायण रङ्गे भुलंलि। तरौनी—तालपत्रों से—वही, २६२

१३६२ ईस्वी मे हुआ, ऐसी लोगो की धारणा है। २६३ ल० सं० में शिवसिंह राजगद्दी पर बैठे। विद्यापति ने लिखा है कि जिस समय देवसिंह की मृत्यु हुई उसी समय मुसलमानों ने इनके ऊपर आक्रमण किए। परन्तु शिवसिंह ने बड़ी वीरता के साथ दोनों काम सम्हाला। पिता की अंत्येष्टि क्रिया तथा यवनों को यमघर भेजना। यवन सेना पराजित होकर भाग चली। सभी लोग आनंदित हुए और देवसिह के शोक को भूल गए[1]। राजा शिवसिह

[1] एक दिस यवन सकल दल चलिओ
एक दिस सओं जमराअ चरू
दुहुए दलहि मनोरथ पूरओ
गरुअ दाप सिवसिंह करू।
सुरतरुकुसुम घालि दिसि पुरेओ
दुन्दहि सुन्दर साद धरू।
वीरछत्र देखन को कारन
सुरगन सोभए गगन भरू।
आरम्भिअ अन्तेट्ठि महामख
राजसूअ असमेध जहाँ।
पण्डित घर आचार वखानिअ
याचक काँ घर दान कहां।
विज्जावइ कइवर एहु गावए
मानव मन आनन्द भओ।
सिंहासन सिवसिंह वइट्ठो
उछवै वइरस विसरियओ।

ने अपने पराक्रम से गौड़ देश तथा गज्जन के राजाओं को पराजित किए[1]। ये बहुत सुंदर तथा साँवले रंग के थे[2]।

इनकी अनेक स्त्रियाँ थीं—लक्ष्मणा देवी (प्रसिद्ध लखिमा देवी या ठकुराइनि)[3], मधुमती देवी[4], सुखमा देवी[5], सोरस देवी[6], मेधा

---

[1] क्षोणीभर्त्तुरमुष्य वैरिवनितावैदग्ध्यदीक्षागुरो-
रद्भूतः शिवसिंहदेवनृपतिर्वीरावतंसः सुतः।
शौर्य्यावर्जितगौड़गज्जनमहीपालोपनम्रीकृता—
नैकोत्तुङ्गमतङ्गजाश्वकनकच्छत्राभिरामोदयः॥
—'शैवसर्वस्वसार', विद्यापति।

[2] राजा सिवसिंह रूपनरायन सामसुन्दर काय।
—विद्यापति पदा०, पृ० ५५ (गंगानंदसिंह संस्करण)।

[3] अनेक पदों में।

[4] विद्यापति कविवर एहो गावए, नव जउवन नव कन्ता।
सिवसिंह राजा एहो रस जानए, मधुमति देवि सुकन्ता॥
—'विद्यापति पदावली', भूमिका, नगेंद्रनाथ संस्करण, पृ० १४

[5] भनहि विद्यापति अरे वरजउवति मेदिनि मदनसमाने।
लखिमा देवि पति रूपनरायन सुखमादेवि रमाने॥
—वही, भूमिका।

[6] बूझ सिवसिंह ई रसमय सोरमदेवि समाज
—वही, पृ० १५३।

यद्यपि यहां "समाज" शब्द से यह सम्बन्ध ठीक नहीं मालूम होता है। रागतरंगिणी, पृ० ९६

देवी[1] तथा रूपिणी देवी[2]। इनके नाम तो विद्यापति की कविताओं में पाए जाते हैं। मालूम नहीं कि और भी कोई रही हों। एक विरह-सम्बन्धी पद में विद्यापति ने कहा है—'राजा शिवसिंह मन दए सजनी, मोदवती देह कत[3]।' इस से 'मोदवती' भी शिवसिंह की स्त्री थी, यह मालूम पड़ता है। किंतु कोई-कोई इसको विद्यापति का पद होने में संदेह करते हैं।

इनमें से लखिमा देवी प्रायः सबसे बड़ी थीं। इन्हीं को राजा ने पट्टमहिषी बनाया था। अत एव सब कार्य में इनकी प्रधानता देख पड़ती है। यह बड़ी पण्डिता थीं। इनके रचित मैथिली में कोई पद्य हैं या नहीं यह अभी नहीं कहा जा सकता, किंतु संस्कृत में तो अनेक हैं। पाठकों के मनोरञ्जन के लिए उनकी कुछ कविताओं का उल्लेख यहाँ कर देना अनुचित न होगा।

लखिमा देवी की एक कन्या थी और उचित समय पर इनका विवाह भी हो गया था। जामाता किसी कारणवश बहुत दिनों तक अपनी पत्नी के पास नहीं आया यह समाचार किसी सखी के मुख से सुन लखिमा देवी ने जामाता के पास निम्नलिखित पद्य लिखवा कर भेज दिया—

---

[1] मेधादेविपति रूपनराएन, सुकवि भनथि कण्ठहार रे
—वही, पद सं० ६०।

[2] विद्यापति भन एहो रस जान, राए सिवसिंह रूपिनिदेइ रमान—वही, भूमिका।

[3] वही, सं० ६६४। नगेंद्रनाथ गुप्त का कहना है कि शिवसिंह की छः स्त्रियाँ थीं। परिषद्ग्रंथावली, पृ० ४१६। 'पंजी' में एक मभा-

सन्तप्ता दशमध्वजस्य[1] गतिना संमूर्च्छिता निर्जले
तुर्य्य[2]द्वादश[3]वद् द्वितीय[4]मतिमन्नेकादशा[5]स्तनी ।
सा षष्ठी[6] कटिपंचमी[7]च नवमभ्रू[8] सप्तमी[9]वर्जिता
प्राप्नोत्यष्टम[10]वेदनां त्वमधुना तूर्णं तृतीयो[11] भव ॥

प्रश्नोत्तर के रूप में ये दो श्लोक हैं—

किं मां हि पश्यसि घटेन कटिस्थितेन[12]
वक्रेण चारुपरिमीलितलोचनेन।
अन्यं हि पश्य पुरुषं तव कार्ययोग्यं
नाहं घटांकितकटीं प्रमदां स्पृशामि ॥

उत्तर मे स्त्री ने कहा—

इनि देवी का एक और नाम मिलता है। यह 'मधुमती' ही का अपभ्रंश नाम हो सकता है। देखिए "पटना यूनिवर्सिटी जर्नल" जिल्द १, भाग २, पृ० १५।

[1]इस श्लोक में जितने संख्यावाचक शब्द हैं वे मेष आदि बारह राशिओं के नाम से यहां सम्बन्ध रखते हैं। यथा—दशम = मकर; मकर + ध्वज = कामदेव । [2]तुर्य्य = कर्क = केकड़ा । [3]द्वादश = मीन । [4]द्वितीय = वृष = पशु या मूर्ख । [5]एकादश = कुम्भ = घड़ा = कुम्भस्तनी । [6]षष्ठी = कन्या । [7]पंचमी = सिंह = सिंह के समान पतली कटिवाली । [8]नवम = धनुष । [9]सप्तमी = तुला । [10]अष्टम = वृश्चिक = वृश्चिक के डंक के वेदना के समान । [11]तृतीय = मिथुन = गृहस्थोचित कर्म करो । [12]मिथिला में घड़े को पानी से भर कर कटि पर रखकर दासी लाती हैं ।

सत्यं ब्रवीमि मकरध्वजबाणमुग्ध !
नाहं त्वदर्थमनसा परिचिन्तयामि ।
दासोऽद्य मे विघटितस्तव तुल्यरूपः
स त्वं भवेन्नहि भवेदिति मे वितर्कः॥

इनके अतिरिक्त भी कुछ श्लोक लखिमा के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे—

चपलं तुरगं परिणर्तयतः
पथि पौरजनान् परिमर्दयतः।
नहि ते भुजभाग्यभवो विभवो
भगिनीभगभाग्यभवो विभवः॥

भङ्क्त्वा भोक्तुं न भुङ्क्ते कुटिलविषलतां कोटिमिन्दोर्वितर्कात्
ताराकारात्तृषार्त्तः पिबति न पयसां विप्लुषः पत्रसंस्थाः।
छायामम्भोरुहाणामलिकुलशबलां वीक्ष्य सन्ध्यामसन्ध्यां
कान्ताविश्लेषभीरुर्दिनमपि रजनीं मन्यते चक्रवाकः[1]॥

और भी—

उत्कूजति श्वसति मुह्यति याति तीरं
तीरात्तरुं तरुवरात् पुनरेति वापीम्।
वाप्यां न रज्यति न चात्ति मृडालखण्डं
चक्रः क्षपासु विरहे खलु चक्रवाक्याः॥

---

[1] ये सब श्लोक मिथिला में प्रसिद्ध हैं। 'इंडियन एँटिक्वेरी'—१८८६, पृ० ३४८ में भी देखिए। कृष्णमाचारी—'संस्कृत साहित्य का इतिहास'।

आवेपते भ्रमति सर्पति मोहमेति
कान्तं विलोकयति कूजति दीनरूपम्।
अस्ते हि भानुमधिगच्छति चक्रवाकी
हा जीवितैरपि वरं मरणं वियोगे॥

बाले विश्रामकाले तव वदननिधौ कान्तिपानीयपूरे
मग्नं मे नेत्रयुग्मं कुचकलशसमालम्बनं प्राप्य तस्थौ।
तस्मान्नाभीह्रदान्तं सुललितत्रिवलिभ्रान्तकान्त्यालसन्तं
दूरादालोक्य भीतं द्वयमपि कलशं नैव हातुं शशाक[1]॥

इत्यादि अनेक श्लोक लखिमा देवी के बनाए हुए मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वह स्वयं परम विदुषी थीं। इसीलिए विद्यापति की कविताओं पर मुग्ध रहा करती थीं। इन्हीं गुणों के कारण शिवसिंह भी लखिमा ही से विशेष स्नेह रखते थे। कवि को यथार्थ में अपनी कविताओं के रसास्वादन के लिए इससे अधिक सुन्दर स्थान और कौन मिलसकता था।

शिवसिंह बाल्यकाल ही से बड़े पराक्रमी थे। उन्हे सुल्तानों की अधीनता बचपन ही से अप्रिय थी। इस लिए एक वार देवसिंह के राज्य-काल ही में मुसलमानों ने मिथिला पर चढ़ाई की और देवसिंह पराजित हो गए। किन्तु फिर आधिपत्य स्वीकार करने पर देवसिंह को राज्य मिल गया। परन्तु मुसलमान शिवसिंह ही को अनर्थमूल जान कर इन्हें दिल्ली ले गए। इससे सभी बड़े

---

१ ये श्लोक 'विद्याकर-सहस्रकम्' नामक प्रयागविश्वविद्यालय से प्रकाशित मिथिला-कवितावली से लिए गए हैं। लखिमा के बनाए हुए ऐसे बहुत से श्लोक और भी हैं।

दुखी रहने लगे। किम्वदन्ती है कि शिवसिंह के परमप्रिय वयस्य कवि विद्यापति शिवसिंह को छुड़ा लाने के उद्देश्य से दिल्ली गए। वहाँ जा कर बादशाह से अपना परिचय निवेदन किया और कहा कि—मैं न देखी हुई चीज़ का भी देखी हुई के समान वर्णन कर सकता हू। तुरंत यवनों ने इसकी परीक्षा की। विना देखे हुए एक सद्यःस्नाता का वर्णन करने की आज्ञा पा कर विद्यापति ने कहा—

कामिनि करए सनाने
हेरितहिँ हृदय हनए पँचबाने।
चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा।

कुचजुग चारु चकेवा
निअ कुल आनि मिलाओत कोने देवा।
तें संकाओ भुजपासे
बाँधि धएल उडि जाएत अकासे।

तितल वसन तनु लागए
मुनिहुंक मानस मनमथ जागए।
भनइ विद्यापति गावए
गुनमति धनि पुनमत जनि पावए॥ [१]

---

[१] खगेन्द्रनाथ, पद सं० ३५ (तरौनी ताल पत्र से) रागतरंगिणी, ७३

किन्तु सुल्तान को इस से पूरा संतोष न हुआ। विद्यापति की दूसरी परीक्षा हुई। एक दिन एक काठ की संदूक में विद्यापति बंद कर एक कुएँ के भितर डोरी से लटका दिए गए। और आदेश मिला कि कुएँ के ऊपर भाग में जो कुछ होता हो उस का वर्णन करो। इसी अवसर पर एक सुंदरी दासी कुएँ पर आ कर किसी कार्य के लिए झुक कर अपने मुह से आग फूंक रही थी। झट विद्यापति ने कविता बनाई—

सुन्दरि निहुरि फुकु आगि।
तोहर कमल[1] भमर[2] मोर देखल
मदन ऊठल जागि।
जौं तों हे भामिनि भवन जएबह
एबह कोनहु बेला
जौं ई संकट सओं जी बाँचत
होयत लोचन मेला।

इतना सुनते ही बादशाह को विद्यापति के वचनों पर पूरा विश्वास हो गया और कविता के माधुर्य से मुग्ध हो कर उन्हों ने तुरत विद्यापति ही को नही किन्तु शिवसिंह को भी मुक्त कर दिया। जन्मसिद्ध कवियों में ऐसी अद्भुत शक्ति स्वभावतः अधिकतर पाई जाती है।

फिर क्या था? विद्यापति ने अति प्रसन्न हो कर ऊपर कही हुई कविता की पूर्ति इस प्रकार की—

---

[1] कुच। [2] नेत्र।

भन विद्यापति चाहथि जे विधि[1]
करथि से से लीला।
राजा शिवसिंह बन्धन मोचल
तखन सुकवि जीला॥

इस प्रकार मुक्त होकर शिवसिंह अपने घर आए। शिवसिंह स्वयं बड़े गुणी थे और गुणवानों का पूर्ण आदर करते थे। इनकी दानशीलता अभी भी मिथिला मे अविच्छिन्न रूप में प्रख्यात है[2]। मिथिला के रजवाड़ों में तुला-पुरुष दान करने की प्रथा बहुत प्राचीन थी और बड़े लोग इसे आवश्यक भी समझते थे। इसलिए शिवसिंह ने भी अपने पिता से सुवर्ण का तुलादान करवाया[3]। देवताओं के मन्दिर इन्होंने बनवाए तथा अनेक बड़े-बड़े तालाब खुदवाए। पण्डौल नामक मधुबनी के समीप एक गाँव में 'रजोखरि' इन्ही की कृति है, जिसके सम्बन्ध में मिथिला में प्रसिद्ध कथन है—

पोखरि 'रजोखरि' आओर सब पोखरा
राजा सिवसिंह आओर सब छोकरा।

इन्ही की आज्ञा से विद्यापति ने 'पुरुषपरीक्षा' तथा 'कीर्त्तिपताका' नामक ग्रन्थ लिखे। युवराजही की अवस्था से शिवसिंह राजा के समान लोगों में आदर पाते थे।

---

[1] विधाता या ईश्वर।

[2] वीरेषु मान्यः सुधियां वरेण्यो विद्यावतामादिविलेखनीयः।
श्रीदेवसिंहक्षितिपालसूनुः जीयाच्चिरं श्रीशिवसिंहदेवः।
—'पुरुषपरीक्षा', मङ्गलाचरण, पृ० १

[3] का वार्त्ता त्वन्यदाने कनकमयतुलापूरुषो येन दत्तः।
—'शैवसर्वस्वसार', विद्यापति।

जब ल० सं० २९३ में देवसिंह मरे और शिवसिंह ने सर्वथा राज्यभार अपने हाथ में लिया, उसी समय पूर्व ही से अप्रसन्न दिल्लीश्वर ने मिथिला पर चढ़ाई कर दी। किंतु शीघ्र ही शिवसिंह ने यवन-सेना को मार भगाया। और आचार-विचार के साथ यज्ञ दानादि करते हुए शिवसिंह राज्य करने लगे। कहा जाता है कि इन्होंने अपने नाम पर सिक्के चलाए थे[1]।

ऐसा अवसर आने पर राजा अपने प्रिय कवि का पूर्ण सत्कार करना नहीं भूले। राज्यासन पर बैठते ही उन्होंने विद्यापति को विसपी ग्राम समर्पण किया जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। विद्यापति से राजा तथा उनकी रानी लखिमा बहुत प्रसन्न रहती थीं। ये दोनों विद्यापति की कविता को प्रेम से सुनते थे और कवि के उत्साह को बढ़ाते थे।

यवन-सेना हार तो गई थी किंतु दूसरी चढ़ाई के लिए अवसर ढूंढ रही थी। लगभग ल० सं० २९६ अर्थात् १४१५ ई० में फिर से युद्ध छिड़ा। शिवसिंह ने इस बार भी बड़ी वीरता दिखलाई, किंतु अंत में यह हार गए। किसी का कहना है कि यह युद्ध क्षेत्र में मारे गए और कोई-कोई कहते हैं कि यह नेपाल के जङ्गलों में छिप गए। जो कुछ हो, इसके बाद शिवसिंह की खबर किसी को नहीं है। इनकी एकमात्र कन्या लखिमा से उत्पन्न हुई थी।

इसके बाद गजरथपुर की राजधानी-जहाँ शिवसिंह राज्य पाने पर रहते थे उजड़ गई। कविवर विद्यापति लखिमा सहित अन्य राज-परिवार के साथ शिवसिंह के मित्र द्रोणवार (दोनवार) वंशीय राजा पुरादित्य के पास

[1] 'आर्किआलाजिकल सर्वे आव् इन्डिया' का वार्षिक विवरण, १९१३-१४।

जनकपुर के समीप 'राजाबनौली' नामक स्थान में जाकर रहने लगे[1]। इन्हीं की आज्ञा से विद्यापति ने २६६ ल० सं० में 'लिखनावली' लिखा था[2]। और वहीं ३०६ ल० सं० मे श्रीमद्भागवत की प्रतिलिपि भी समाप्त की जो इस समय महाराजाधिराज दरभङ्गा-नरेश के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

मैथिल इतिहासवेत्ताओं का कहना है कि शिवसिंह के मरने पर रानी लखिमा ने १२ वर्ष तक स्वयं राज्य किया। किंतु इसका कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। जिस विद्यापति ने इस समय के राजाओं के राज्यक्रम का उल्लेख किया है, वह भी लखिमा की राज्य-सम्बन्धी वार्ता का समर्थन नहीं करते। वस्तुस्थिति तो यही कहती है कि ये लोग यवनेश्वर के भय से पुरादित्य के यहाँ रक्षा के लिए रहते थे।

कहा जाता है कि इसके बाद राजा शिवसिंह के मन्त्री कायस्थ चन्द्रकर के पुत्र अमृतकर ने पटना जाकर बादशाह के मुख्य कर्मचारी से प्रार्थना-पूर्वक भिक्षा-स्वरूप में मिथिला का राज्य माँग लिया। और गजरथपुर को छोड़ जिला दरभङ्गा, परगना बछौर, के 'पदुमा' नामक स्थान में, अपनी

---

[1] 'लिखनावली', भूमिका, पृ० २-३; 'पुरुषपरीक्षा', टिप्पणी, पृ० २६०

[2] सर्वादित्यतनूजस्य द्रोणवारमहीपतेः।
गिरिनारायणस्याज्ञां पुरादित्यस्य पालयन्॥
अल्पश्रुतोपदेशाय कौतुकाय बहुश्रुताम्।
विद्यापतिस्सतां प्रीत्यै करोति लिखनावलीम्॥
—'लिखनावली' के आदि श्लोक।

राजधानी बना कर शिवसिंह के छोटे भाई पद्मसिंह राज्य करने लगे[1]। पद्मसिंह बड़े पराक्रमी,[2] दानी और यशस्वी थे। उनके गुणों में सभी लुब्ध रहा करते थे। मालूम होता है कि इन्होंने केवल एक वर्ष तक राज्य किया। इनकी कोई भी सन्तान नहीं थी; इसलिए इनके मरने के बाद इनकी धर्मपत्नी श्रीविश्वासदेवी ने बड़ी चतुरता से बहुत दिनों तक राज्य किया[3]। इन्होंने

---

[1] 'पुरुषपरीक्षा' टिप्पणी, पृ० २८०। इसी 'अमियकर' के नाम पर कवि विद्यापति ने एक पद भी बनाया है—'पदावली' सं० ८६ (गंगापतिसिंह का संस्करण) देखिए।

[2] (क) संग्रामाङ्गणसीमभीमसदृशस्तस्यानुजस्संलसत्
दाने स्खलितकल्पद्रुममहिमाऽसौ पद्मसिंहो नृपः।
कैलासोदरसोदरीयति शरद्राकाशशांकीयति
प्रालेयाचलशेखरीयति यशो यस्यारविन्दीयति॥

(ख) विद्यामङ्गिरसः सुतस्य विनयं रामस्य वृत्तं मुनेः
शौर्य्यं सूर्य्यसुतस्य धैर्य्यमवनेर्गाम्भीर्य्यमम्भोनिधेः।
दानं दानवनन्दनस्य सकलं सारं समुच्चिन्वता
धात्रा यश्शरदिन्दुसुन्दरयशः क्षोणीपतिर्निर्म्मितः॥
—'शैवसर्वस्वसार', विद्यापति।

[3] दुग्धाम्भोधेरिव श्रीर्गुणगणसदृशे विश्वविख्यातवंशे
सम्भूता पद्मसिंहक्षितिपतिदयिता धर्म्मकर्म्मैकसीमा।
पत्युः सिंहासनस्था पृथुमिथिलमहीमण्डलं पालयन्ती
श्रीमद्विश्वासदेवी जगति विजयते चर्य्ययाऽरुन्धतीव॥
—'शैवसर्वस्वसार'।

जनकपुर ही के समीप 'विसौलि' नामक ग्राम को अपने नाम पर बसाया और उसी को राजधानी स्थिर किया। यह पद्मसिंह की बड़ी प्रिय रानी थी[1]। यह बड़ी दाता और यशस्विनी थी। इन्होंने अनेक बार तुलापुरुषादि महादान भी किए[2]। विद्यापति ने 'शैवसर्वस्वसार', 'शैवसर्वस्वसार—प्रमाणभूत-पुराणसंग्रह' तथा 'गंगावाक्यावली' नामक ग्रन्थ इन्ही के आदेश से बनाए[3]। ध्यान देने का विषय है कि कवि विद्यापति इस समय के बाद शिव और गंगा की भक्ति की ओर विशेष झुकने लगे थे। विद्यापनि ने इन ग्रन्थों मे रानी की बड़ी प्रशसा की है। इन्हे भी प्रायः कोई सन्तान नहीं हुई।

इसलिए राज्यभार अबकी बार भवसिंह की तृतीय स्त्री के पुत्र हरिसिह या

---

[1] विष्णोः श्रीरिव पद्मसिंहनृपतेरेषापरा प्रेयसी।

—'शैवसर्वस्वसार'।

[2] नैकोऽपि प्रथितः प्रदानयशसो विश्वासदेव्या समो
दातारः कति नाभवन् कति न वा सन्तीह भूमण्डले।
यस्याः स्वर्णतुलामुखाखिलमहादानप्रदानाङ्गण-
स्वर्गग्राममृगीदृशामपि तुलाकोटिध्वनिः श्रूयते॥

—'शैवसर्वस्वसार'।

[3] नित्यं देवद्विजार्थं द्रविणवितरणारम्भसम्भावितश्रीः
धर्मज्ञा चन्द्रचूडप्रतिदिवससमाराधनैकाग्रचित्ता।
विज्ञानुज्ञाप्य विद्यापतिकृतिनमसौ विश्वविख्यातकीर्त्तिः
श्रीमद्विश्वासदेवी विरचयति शिवं शैवसर्वस्वसारम्॥

—'शैवसर्वस्वसार'।

हरसिंह के ऊपर पड़ा[1]। मालूम पड़ता है कि इन्होंने बहुत ही थोड़े दिन राज्य किया। इनका वर्णन विद्यापति ने 'विभागसार'[2] मे, वाचस्पतिमिश्र (द्वितीय) ने 'कृत्यमहार्णव' तथा 'महादाननिर्णय' में, मिसरूमिश्र ने 'विवादचन्द्र' में तथा वर्द्धमान उपाध्याय ने अपने 'गंगाकृत्यविवेक' में किया है।

इनके बाद राजा नरसिंहदेव उपनाम दर्पनारायण राजा हुए। यह भी बड़े पराक्रमी, दानी, यशस्वी तथा गुणवान राजा थे[3]। इन्हीं की आज्ञा से

---

[1] 'हिस्ट्री आव् तिरहुत', पृ० ७२

[2] राज्ञो भवेशाद्धरिसिंह आसीत्।—'विभागसार', विद्यापति

[3] (क) स्वस्ति श्रीनरसिंहदेवमिथिलाभूमण्डलाखण्डलो
भूभृन्मौलिकिरीटरत्ननिकरप्रत्यर्चिताङ्घ्रिद्वयः।
आपूर्वापरदक्षिणोत्तरगिरिप्राप्तार्थिवाञ्छाधिक-
स्वर्णक्षोणिमणिप्रदानविजितश्रीकर्णकल्पद्रुमः॥
—विद्यापति, 'दुर्गाभक्तितरंगिणी'।

(ख) श्रीरामेश्वरराजपण्डितकुलालङ्कारसारः श्रिया-
मावासो नरसिंहदेवमिथिलाभूमण्डलाखण्डलः।
दृप्यद्दुर्द्धरवैरिदर्पदलनोऽभूद्दर्पनारायणो
विख्यातः स्वरदिन्दुकुन्दधवलभ्राम्यद्यशोमण्डलः॥
—विद्यापति, 'दानवाक्यावली'।

(ग) अभूदभूतप्रतिपक्षभीतिः सदा समासादितभूरिनीतिः।
चिरं कृतार्थीकृतभूमिदेवः स्फुरत्प्रतापो नरसिंहदेवः॥
—रुचिपति 'अनर्घराघवटीका', पृ० २ (काव्यमाला-संस्करण)

विद्यापति ने 'विभागसार' नामक ग्रंथ लिखा[1]। इनकी दो स्त्रियां थीं—धीरमति तथा हीरादेवी। धीरमति बड़ी दयाशीला और गुणवती थीं। इन्होंने अनेक महादान किए और जलाशय बनवाए तथा अनेक बाग़ लगवाए। इनकी आज्ञा से विद्यापति ने 'दानवाक्यावली' लिखी[2]।

---

[1] राज्ञो भवेशाद्धरिसिंह आसीत् तत्सूनुना दर्पनारायणेन।
राज्ञा नियुक्तोऽत्र विभागसारं विचार्य विद्यापतिरातनोति॥
—हस्त० पुस्तकसूची, सं० २०३७ (राजेंद्रलालमित्र)

[2] (क) तस्योदारगुणाश्रयस्य मिथिलाक्ष्मापालचूडामणेः।
श्रीमद्धीरमतिः प्रिया विजयते भूमण्डलालङ्कृतिः॥
—'दानवाक्यावली', पृ० १-२

(ख) दाने कल्पलतेव चारुचरिते याऽरुन्धतीव स्थिरा
या लक्ष्मीरिव भैरवे गुणगणे गौरीव या गण्यते।
वापी कूपजलाधिकाशिविमला विज्ञानवापीसमा
रम्यं तीर्थनिवासिवासभवनं चन्द्राभमभ्रंलिहम्॥१॥
उद्यानं फलपुष्पनम्रविटपच्छायाभिरानन्दनं
भिक्षुभ्यः सरसान्नदानमनघं यस्या भवान्या इह।
लक्ष्मीभाजः कृतार्थो न कृतसु मनसो या महादानहेम-
ग्रामैराजीवराजीवहलतरपरागास्तरागैस्तडागैः॥२॥
विज्ञानुज्ञाप्य विद्यापतिमतिकृतिनं सप्रमाणामुदारा
राज्ञी पुण्यावलोका विरचयति नवां दानवाक्यावलीं सा।
—'दानवाक्यावली' का आरंभ।

इनके दो पुत्ररत्न उत्पन्न हुए—धीरसिंह उपनाम हृदयनारायण तथा भैरवसिंह उपनाम रूपनारायण। इसी प्रकार द्वितीय स्त्री हीरा देवी से भी तीन पुत्र उत्पन्न हुए—चंद्रसिंह तथा दुर्लभसिंह उपनाम रणसिंह और कुमार दुराई। इन सभों में ज्येष्ठ धीरसिंह थे। इस लिए नरसिंहदेव के मरने के बाद धीरमति देवी के पुत्र धीरसिंह सिंहसनारूढ़ हुए।

धीरसिंह के समयनिरूपण के संबन्ध में यह कहा जा सकता है, कि ल० सं० ३२१ अर्थात् १४४० ईस्वी में धीरसिंह राज्य करते थे, क्योंकि इसी वर्ष कार्तिक कृष्ण अमावास्या शनि के दिन प्राकृत-काव्य 'सेतुबध' की टीका 'सेतुदर्पिणी' हस्तलिखित की गई थी[1]। इसके वाद ल० सं० ३२७ अर्थात् १४४६ ई० तक उनके सिंहासनारूढ़ रहने का भी प्रमाण मिलता है।[2] यह

[1] परमभट्टारकेत्यादि-महाराजाधिराज-श्रीमल्लक्ष्मणसेनदेवीयैकविंशत्यधिकशतत्रयतमाके (ब्दे?) कार्त्तिकामावास्यायां शनौ समस्तप्रक्रियाविराजमानरिपुराजकंसनारायण-शिवभक्तिपरायण-महाराजाधिराज-श्रीश्रीमद्धीरसिंहसंभुज्यमानायां तीरभुक्तौ अलापुरतपाप्रतिबन्ध(द्ध)सुन्दरीग्रामे वसता सदुपाध्यायश्रीसुधाकराणामात्मजेन छात्रश्रीरत्नेश्वरेण स्वार्थं परार्थञ्च लिखितमिदं सेतुदर्पणीपुस्तकमिति।

—'हिस्ट्री आव् तिरहुत', पृ०७४

[2] ल० सं० ३२७ भाद्रशुदि १० रवौ महाराजाधिराजश्रीमद् हृदयनारायणराज्ये हाटीतपा सं लङ्करी ब्रह्मपुरे श्रीकृष्णपतिना लिखितमिदं कर्णपर्वम्—देखिए "जर्नल आव् बिहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी" जिल्द १० पृ०–४७–४८। 'हृदयनारायण' धीरसिंह का उपनाम था।

भी बड़े प्रतापी, शत्रुजेता तथा कीर्तिमान् राजा हुए[१]। धीरसिंह के दो पुत्र हुए—राघवसिंह तथा जगन्नारायणसिंह[२]।

धीरसिंह के बाद उनके छोटे भाई भैरवसिंह राज्याधिकारी हुए। कहीं-कहीं भैरवसिंह का उपनाम 'हरिनारायण' भी मिलता है[३]। यह भी बड़े पराक्रमी तथा यशस्वी राजा हुए। इन्हों ने पाँचों गौड़ राजाओं को पराजित किया था[४]। इनके समय में भी अनेक संस्कृत ग्रंथ लिखे गए। पंडितों का आदर

---

[१] विश्वख्याततनयस्तदीयतनयः प्रौढ़प्रतापोदयः

संग्रामाङ्गणलब्धवीरविजयः कीर्त्याऽऽप्तलोकत्रयः।

मर्यादानिलयः प्रकामनिलयः प्रज्ञाप्रकर्षाश्रयः

श्रीमद्भूपतिधीरसिंहविजयी राजत्यमोघक्रियः॥

[२] 'कुलवृत्त' देखिए। —विद्यापति, 'दुर्गाभक्तितरंगिणी', पृ० १

[३] (क) इति समस्तप्रक्रियाविराजमानरिपुराजकंसनारायणभवभक्तिपरायणश्रीहरिनारायणपदस्समलङ्कृतमहाराजाधिराजश्रीमद्भैरवसिंहदेवनिदेशप्रोत्साहितवैजौलीग्रामवास्तव्यखौआलवंशप्रभवश्रीरुचिपतिमहोपाध्यायविरचितायामनर्घराघवटीकायां सप्तमोऽङ्कः। —'मुरारिनाटकटीका', काव्यमालासंस्करण, पृ० ३२१ (ख) 'हिस्ट्री आव् तिरहुत', पृ० ७५

[४] शौर्यावर्जितपञ्चगौडधरणीनाथोपनम्रीकृता-

नेकोत्तुङ्गतुरङ्गसङ्गतसितच्छत्राभिरामोदयः।

श्रीमद्भैरवसिंहदेवनृपतिर्यस्यानुजन्मा जय-

त्याचन्द्रार्कमखण्डकीर्त्तिसहितः श्रीरूपनारायणः॥

—'दुर्गाभक्तितरंगिणी', पृ० १

इनके यहां विशेष होता था। राजनीति में यह बडे चतुर थे इसी कारण प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नही होता था[1]। विद्यापति ने इन्हीं की आज्ञा से 'दुर्गाभक्ति-तरगिणी' लिखी थी[2]। रुचिपतिठाकुर ने 'अनर्घराघव' नाटक की

---

[1] (क) सूनुस्तस्य वसुन्धरापरिवृढस्यानन्दकन्दः क्षिते-
राधारो जगतामशेषविदुषां विश्रामकल्पद्रुमः।
दाने कर्णकथावलेपनिपुणः संसाररत्नाङ्कुरो
भूमीपालशिरोमणिर्विजयते श्रीभैरवेन्द्रो नृपः॥

—रुचिपति, 'अनर्घराघवटीका', पृ० २

(ख) अर्थिप्रार्थितपूरकोऽपि रमतां स्वीये बलिर्मन्दिरे
नाकेऽनेकफलान्वितोऽपि स सुखेनास्तां च देवद्रुमः।
श्रीमान् सम्प्रति भैरवेन्द्रनृमणिः सर्वार्थचिन्तामणि-
र्जातो लोचनगोचरो यदि तदा किं तेन तेनापि वा॥

—वही।

(ग) यस्मिन् राजनि राजनीतिचतुरे पाथोधितीरावधि
प्रख्यातप्रचितप्रतापनिचये पृथ्वीमिमां शासति।
कोऽकं राजकरो न लोकनिकरं संतापयत्युन्नतो
विख्यातः सुदृशां महोत्सवविधौ कान्तेन-पाणिग्रहः॥

—वही।

[2] देवीभक्तपरायणः श्रुतिमुखप्रारब्धपारायणः
संग्रामे रिपुराजकंसदलनप्रत्यक्षनारायणः।
विश्वेषां हितकाम्यया नृपवरोऽनुज्ञाप्य विद्यापति
श्रीदुर्गोत्सवपद्धतिं स तनुते दृष्ट्वा निबन्धस्थितिम्॥

—विद्यापति, 'दुर्गाभक्तितरंगिणी', पृ० १

टीका लिखी थी[१]। भैरवसिंह के समय में वाचस्पतिमिश्र द्वितीय ने 'व्यवहार-चिंतामणि' 'कृत्यमहार्णव' तथा 'महादाननिर्णय' लिखे; वर्द्धमानोपाध्याय ने 'दंडविवेक' लिखा। ये दोनों विद्वान इनके सभासद थे। वर्द्धमान तो धर्माधिकारी थे[२]। वाचस्पतिमिश्र द्वितीय ने लिखा है कि इन्होंने सैकड़ों तालाब खुदवाए, नगर, ग्राम, पत्तन आदि के दान किए तथा तुलापुरुषदान भी किए[3]।

इनकी दो स्त्रिया थीं एक का नाम जया देवी[४] था जिनके पुत्र महाराज

---

[१] खौआलवंशजातस्तस्यादेशान्महीशस्य।
श्रीरुचिपतिरतिगूढ़ाः स्पष्टीकुरुते मुरारिकविवाचः॥
—'मुरारिनाटकटीका', पृ० २

[२] 'हिस्ट्री आव् तिरहुत', पृ० ७६

[3] (क) विधाय सरसीः शतं नगरपत्तनादीनदात्
विजित्य रिपुभूपतीनदीतयस्तुलापूरुषान्।
स एष नृपभैरवः समरसीम्नि पञ्चाननो
जयत्यविधिदारको जगति राजवृन्दारकः॥
(ख) श्रीवाचस्पतिधीरं सहकारितया समासाद्य।
श्रीभैरवेन्द्रनृपतिः स्वयं महादाननिर्णयं तनुते॥
यह हस्तलिखित ग्रंथ नेपालराज दरबार में ल० सं० ३९२=१५११ ई० का लिखा हुआ है।

[४] विष्णोर्व्यक्तः पुरमिव शम्भोरिव देहवामार्धम्।
देवी सनाभिरेषा जयति जयात्मा महादेवी॥
—'हिस्ट्री आव् तिरहुत', पृ० ७६

पुरुषोत्तम उपनाम गरुड़नारायण थे[1]। दूसरी स्त्री का नाम तो मुझे मालूम नहीं किंतु उन के पुत्र रामभद्रसिंह उपनाम रूपनारायण थे। इन लोगों ने क्रमशः राज्य किया। प्रायः महाराज पुरुषोत्तम निस्सन्तान मर गए।

उधर धीरसिंह के दो पुत्र थे राघवसिंह तथा जगन्नारायणसिंह। राघवसिंह की स्त्रियों का नाम मोदवती तथा सोनमती था[2]। इन्होंने कब से कब तक राज्य किया यह तो अभी किसी से प्रमाणित नहीं होता है किन्तु इतना कहा जा सकता है कि कविवर विद्यापति इनके भी राज्यकाल में प्रायः जीवित थे और कविने इनके नाम का अपने कुछ पदों में उल्लेख भी किया है[3]। इसी प्रकार जगन्नारायणसिंह के चार पुत्र हुए[4]। उनमें से एक का नाम रुद्रनारायण था। विद्यापति ने कुछ पदो में एक राजा रुद्रसिंह का

---

[1] श्रीभैरवेन्द्रधरणीपतिधर्म्मपत्नी
राजाधिराजपुरुषोत्तमदेवमाता।
वाचस्पतिमिश्र—द्वैतनिर्णय का आदि श्लोक, तथा 'वादिविनोद'

[2] (क) मोदवती पति राघवसिंह मति कवि विद्यापति गाई।
—विद्या० पदा० गङ्गानन्दसिंह, पृ० २७२

(ख) भनइ विद्यापति बुझ रसमन्त, राघवसिंह सोनमति-देविकन्त।—विद्यापति पदावली, नगेन्द्रनाथ, पद सं० ७२४

[3] (क) भनहि विद्यापति सुनु परमान।
बुझ नृपराघव नव पचवान॥—वि० पद०, सं० ७०० (नगेन्द्रनाथ)
(ख) फुटनोट सं० २ (क, ख)—ऊपर।

[4] 'कुलवृत्त' देखिए

उल्लेख किया है[१]। इसीसे यह भी अनुमान होता है कि कदाचित् वह रुद्रसिंह यही 'रुद्रनारायणसिंह' हों, क्योंकि तत्कालीन रुद्रसिंह नामक किसी भी अन्य राजा का परिचय आज तक मुझे नहीं मिला है।

उधर राजा नरसिंहदेव की द्वितीय स्त्री हीरा देवी के ज्येष्ठ पुत्र और भवसिंह के छोटे वैमात्रेय भाई चंद्रसिंह भी बड़े प्रतापी राजा हुए[२]। इन्होंने भी कुछ दिन तक राज्य किया था यह केवल इन के नाम के आगे वारबार 'नृप' शब्द के प्रयोग देखने से ज्ञात होता है[३]। सम्भव है कि इन्होंने मिथिला-राज्य के कुछ भाग पर ही राज्य किया हो। इनकी भी स्त्री का नाम लखिमा था[४]। इनके दरबार में भी अनेक विद्वान् थे जिनमें मिसरूमिश्र का प्रधान नाम है। इन्होंने

---

[१] (क) कवि विद्यापति भान, लानिनि जीवन जान।
नृप रुद्रसिंह वरु, मेदिनि कलपतरु॥
—वि० पद०, पृ० २४४ (गंगानन्दसिंह)

(ख) रुद्रसिंह नरपति वरदायक, विद्यापति कवि भणित गुणे। —वही, पृ० ३१२

[२] 'श्रीचन्द्रसिंहोऽनुजः'—'दुर्गाभक्तितरंगिणी' के आरम्भ में।

[३] 'चंद्रसिंहनृपतेः'—'विवादचंद्र' के आरंभ में।
पुनः 'श्रीचंद्रसिंहनृपतेः'—'पदार्थचंद्र' के प्रारंभ में।

[४] (क) श्रीमल्लखिमादेवी तस्य चंद्रसिंहनृपतेर्दयितस्य।
मिसरूमिश्रद्वारा रचयति विवादचंद्राभिरामम्॥
—'विवादचंद्र' के आरंभ में।

'विवादचन्द्र' तथा 'पदार्थचन्द्र' नामक ग्रन्थ बनाए[1]। इनके यहाँ भी मैथिली में रचना करने वाले कवि थे जिनमें 'भानु' के नाम के पद देख पड़ते हैं[2]।

विद्यापति से सम्बन्ध रखनेवाले मिथिला के राजाओं की संक्षिप्त इतिवृत्ति हमें मैथिलों के बनाए अनेक ग्रन्थों से मिलती है। थोड़ा सा परिश्रम किया जाय तो इन सभों के यथार्थ राज्यकाल का भी परिचय लग सकता है। कुछ दिग्दर्शन तो ऊपर कराया गया किंतु पूरी चेष्टा अभी बाकी ही है। फिर कभी आगे देखा जायगा। इस आधार पर यह कहा जाता है कि विद्यापति का जीवनकाल राजाओं के सभा में अनेक प्रकार के प्रकांड विद्वानों के साथ व्यतीत हुआ। इसलिए विद्यापति ने यद्यपि मैथिली भाषा की उन्नति ही में अपना प्रधान समय लगाया, तथापि शास्त्रों का भी पूरा व्यवसाय रक्खा था। आजकल के भाषा-कवियों की तरह कोरे भाषा-कवि ही वह नहीं थे। इसके फलस्वरूप उन्होंने कितने अच्छे-अच्छे संस्कृत के ग्रन्थ बनाए जिनका अति संक्षिप्त परिचय आगे दिया जायगा। मैथिलों के लिए यह कोई नवीन बात नहीं है, वे तो पूर्व में और अभी भी कोरे भाषा-कवि न हुए और न हैं।

(ख) श्रीचंद्रसिंहनृपतेर्दयिता लखिमामहादेवी।
रचयति पदार्थचंद्रं मिसरूमिश्रोपदेशेन॥
—'पदार्थचंद्र' के आदि में।

[1] फुटनोट नं० ४ पृ० ४४-४५।

[2] चंद्रसिंह नरेस जीवओ 'भानु' जम्पए रे॥
—वि० पदा०, सं० ३२२ (नगेंद्रनाथ)

यद्यपि गुप्तजी ने इसे विद्यापति की कविता बतलाया है किंतु मुझे ठीक नहीं जचता, इस लिए मैंने इसे 'भानु' नामक कवि का बनाया हुआ माना है।

विद्यापति का जीवनकाल

उपर्युक्त बातों के आधार पर अब विद्यापति के जीवनकाल का भी कुछ निर्णय हो सकता है। ऊपर कहा गया है कि संभवतः २४१ ल० सं० अर्थात् १३६० ईस्वी में इन का जन्म हुआ था। इसके प्रमाण में यह कहा जाता है कि इनके पिता गणपतिठाकुर महाराज गणेश्वरसिंह के राजसभासद थे और गणेश्वर की राजसभा में अपने पुत्र विद्यापति को अपने साथ ले जाया करते थे। महाराज गणेश्वर की मृत्यु २५२ ल० सं० में हुई थी[1]। अतः विद्यापति उस समय कम से कम १० या ११ वर्ष की अवस्था के अवश्य रहे होंगे जिसमें उनका राजदरबार में आना-जाना हो सकता था। दूसरी बात यह है कि विद्यापति के प्रधान आश्रयदाता शिवसिंह ५० वर्ष की अवस्था में राज्यगद्दी पर बैठे यह परंपरा से माना जाता है। अतः उनका जन्म २४३ ल० स० के लगभग में हुआ होगा। और यह भी लोगों की धारणा है कि कवि विद्यापति उनसे

१ इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि म० म० हरप्रसाद शास्त्री का २५२ ल० सं० समझना अशुद्ध था, वास्तव में इसे ३०४ ल० सं० समझना चाहिए (जर्नल आव उड़ीसा, जिल्द १३ भाग ३-४, पृ० २६०)। परन्तु, श्रीमद्भागवत की हस्तलिखितप्रति जो विद्यापति ने ३०९ ल० सं० में लिखी थी उसको वे रजावनौलीग्राम में लिखा हुआ बताते हैं। ऐसी अवस्था में ३०४ ल० स० होना असम्भव लगता है। ३०४ ल० स० में जब गणेश्वरसिंह हो मारे गए तब कब कीर्तिसिंह, देवसिंह और शिवसिंह गद्दी पर बैठे और मरे? इब्राहीम शाह के तिथि से भी इसमें कोई भेद नहीं पड़ेगा। इतिहास ही इसका प्रमाण है।

दो वर्ष मात्र बड़े थे। तीसरी बात यह है कि विद्यापति ने 'कीर्त्तिलता' में अपने को 'खेलन-कवि'[1] कहा है, इस लिए वह अवश्य कीर्त्तिसिंह या वीरसिंह की दृष्टि में अल्प-वयस के साथ-साथ खेलने के योग्य रहे होंगे। इन सभी बातों से यही अनुमान होता है कि विद्यापति २५२ ल० सं० मे लगभग १० वर्ष के थे। विद्यापति ने कीर्त्तिसिंह के सुनने के लिए 'कीर्त्तिलता' काव्य की रचना की थी[2]। अब यदि यह कहा जाए कि विद्यापति 'कीर्त्तिलता' की रचना के समय अवश्य कम से कम लगभग बीस वर्ष के तो रहे ही होंगे, क्योंकि इस अवस्था से बहुत पूर्व वयस मे 'कीर्त्तिलता' के समान काव्य की रचना करने की शक्ति नहीं रही होगी, तब भी यही मालूम होता है कि विद्यापति २४१ ल० सं० या उसके लगभग उत्पन्न हुए थे।

इसी प्रकार इनके मृत्यु-समय का भी बहुत कुछ अनुमान किया जा सकता है। ऊपर कहा जा चुका है कि विद्यापति ने 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' महाराज भैरवसिंह के समय में बनाया था और ३२७ ल० सं० अर्थात् १४४६ ई० में

---

[1] एवं सङ्गरसाहसप्रमथनप्रालब्धलब्धोदयां
पुष्णाति श्रियमाशशाङ्कतरणीं श्रीकीर्त्तिसिंहो नृपः।
माधुर्यप्रसवस्थली गुरुयशोविस्तारशिक्षासखी
यावद्विश्वमिदञ्च खेलनकवेर्विद्यापतेर्भारती॥
—'कीर्त्तिलता' का अंतिम श्लोक।

[2] श्रोतुर्ज्ञातुर्वदान्यस्य कीर्त्तिसिंहमहीपतेः।
करोतु (?ति) कवितुः काव्यं भव्यं विद्यापतिः कविः॥
—'कीर्त्तिलता', पल्लव १

धीरसिंह राज्य करते थे। इसलिए ३२७ ल० स० के बाद ही भैरवसिंह राज्य सिंहासन पर चढे हुए होंगे। अतएव यह कहा जा सकता है कि ३२७ ल० सं० हीके पश्चात् विद्यापति ने 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' लिखी थी। भैरवसिंह के राज्य काल ही मे विद्यापति की मृत्यु हुई होगी। क्योंकि भैरवसिंह के पश्चात् पुनः विद्यापति की कोई चर्चा नहीं देख पड़ती है ।

अतएव जब तक कोई इससे भी विशेष प्रामाणिक बात नहीं मिलती तब तक विद्यापति का जन्म २४१ ल० स० (१३६० ईस्वी) के लगभग तथा मृत्यु ३२७ ल० सं० (१४४६ ईस्वी) के बाद में हुई यह माना जा सकता है। विद्यापति दीर्घायु थे यह उनके लम्बे कार्यकाल से निश्चित होता है और उनके पूर्वज तथा समकालीन विद्वान भी दीर्घजीवी होते थे यह भी उसको पुष्ट करता हैं।

यहाँ और भी एक विचारणीय बात है। एक कविता में कवि कहते हैं—

> सपन देखल हम सिवसिंह भूप
> बतिस बरिस पर सामर रूप।
> बहुत देखल गुरुजन प्राचीन
> आब भेलहुँ हम आयु विहीन।
> सिमटु सिमटु निअ लोचन नीर
> ककरहु काल न राखथि थीर।
> बिद्यापति सुगतिक प्रस्ताव
> त्यागि के करुना रसक स्वभाव।

ऐसा मालूम होता है कि महारानी लखिमा के स्वर्गवास हो जाने के बाद से कवि श्रृङ्गार से विरक्त होने लगे थे। यद्यपि उन्होंने महाराज पद्मसिंह के

समय में कुछ कविताएँ श्रृंगार रस की लिखीं[1] तथा कुछ राय अर्जुनसिंह के समय में लिखीं, परन्तु उन्होंने क्रमशः 'शिव', 'गंगा', 'गया', 'दान' 'दुर्गा' प्रभृति के ही सम्बन्ध में ग्रन्थ लिखे इसीका प्रमाण मिलता है। इससे अनुमान होता है कि अवस्था के साथ-साथ स्वाभाविक रीति से ही उनकी भावनाएँ अब दूसरी ओर हो गईं। इसके बाद कवि ने वास्तविक भक्ति के अनेक सुन्दर पद बनाए, परन्तु फिर भी उन पदों की संख्या बहुत ही अल्प है।

इन्हीं दिनों की कुछ विरक्ति की कविताएँ भी बड़ी रोचक हैं तथा इनसे यह भी मालूम होता है कि कवि ने श्रृंगारिक रचना ही में अधिक समय लगाया था।

माधव, हम परिनाम निरासा।
तुहु जगतारन दीन दयामय अतए तोहर विसवासा।
आध जनम हम नींद गमायनु जरा सिसु कत दिन गेला।
निधुवनरमनि रभसरंग मातनु तोहे भजब कओन बेला।

बाद को भी हम विस्तृतरूप में कहेंगे और अभी संक्षेप में यह कहते हैं कि जितनी कविताएँ राधाकृष्ण को लेकर कवि ने बनाईं प्रायः सभी श्रृंगारिक हैं और कवि ने उनमें संसार के स्त्री पुरुष को राधाकृष्ण के नाम से अन्योक्ति-

---

[1] तथा, देखिए 'विशुद्ध-विद्यापति-पदावली' की २५ वीं कविता

भनइ विद्यापति सुनह मधुरपति
तोहें छाड़ि गति नहि आने।
विसवास देवी पति रस कोबिन्दक
नृपति पदुमसिंह जाने॥

रूप में मिथिला-देशीय सब प्रकार के मनुष्यों के उचित आचार-विचार तथा व्यवहार के अनुकूल शृंगारिक मात्र सभी बातो का संग्रह अपने पदों में किया है। राधाकृष्ण के नाममात्र से यह कभी न समझना चाहिए कि कवि केवल भक्तिरस की चरम काष्ठा पर पहुँचकर जीव और ब्रह्म के ऐक्य ही को शृंगारिक शब्दों में कह रहा है। अधिकतर पदों में तो राधाकृष्ण का नाम भी नही है इसलिए हमें कवि के प्रत्येक शब्दों को लेकर मनन करना चाहिए कि किस उद्देश्य से कवि ने लिखा है। इससे मैं यह कभी नहीं कहता कि विद्यापति के मन में हरि भगवान् की भक्ति न थी या किन्हीं एक या दो कविताओं में उन्होंने भगवान् के यथार्थ स्वरूप को लक्ष्य न किया हो किन्तु प्रायः कर के सभी कविताएँ एकमात्र लौकिक प्रेम के ही अंग-प्रत्यंग स्वरूप हैं। इसी बात को कवि ने उक्त पदो में सूचित भी किया है।

इसी भावना को कवि ने वृद्धावस्था की रचनाओं में स्पष्ट किया है :—

ए हरि वन्दों तुअ पद नाय।
तुअ पद परिहरि पाप पयोनिधि पारक कओन उपाय॥
जावत जनम नहिं तुअ पद सेविनु जुवती मतिमय मेलि।
अमृत तजि किए हलाहल पीअनु सम्पद अपदहि मेलि॥[1]

इस प्रकार का पश्चात्ताप कवि कभी नहीं करते यदि जब से उन्होंने रचना आरंभ की तब से केवल भगवान् की भक्ति ही में डूबे रहते और सच्चिदानंद-सागर ही में डूब-डूब कर कवितारूपी -मोतियों को बाहर बिखरते रहे होते। यह तो स्पष्ट मालूम होता है कि कवि ने अपने जीवन के अधिकांश समय को संसार ही के सुख-दुख में लगाया और अब अन्त में पश्चात्ताप कर रहे हैं। भक्त को आरंभ में पश्चात्ताप होता है और होना संभव भी है किन्तु

यदि वह सालों भक्ति-समुद्र में डूबे रहे होते तो पश्चात्ताप बाद को होना असंभव ही मालूम होता है।

विद्यापति की जीवनी

बाल्यपन में ही इन्होंने एक बड़े मैथिल विद्वान् हरिमिश्र से विद्यारंभ किया था और उसी समय उन का परिचय नैयायिक जयदेवमिश्र उपनाम पक्षधरमिश्र से हुआ था। यह भी अपने पितृव्य हरिमिश्र से ही पढ़ते थे[1]। विद्यापति थे बड़े बुद्धिमान् किन्तु इनका संबन्ध राज-दरबार से शीघ्र हो गया। अतएव इन्होंने शास्त्र का व्यवसाय विशेष नहीं किया। केवल शास्त्र के उन्हीं विषयों से इनका संबन्ध रह गया जो कि राज-दरबार में नित्य काम में आते थे। आपने धर्मशास्त्र के निबन्ध तथा नीति के ग्रंथों का ही निर्माण किया। इन के अतिरिक्त राज-दरबार में साधारण बुद्धि वाले पुरुष तथा स्त्रियों की रुचि के अनुसार अपनी मातृभाषा मैथिली में भी कविता बनाने लगे।

थे तो पूर्व में यह शास्त्र के पढ़ने वाले तथा पक्षधरमिश्र के समान विद्वानों के साथ रहने वाले, अतएव जब इन्हों ने भाषा में रचना करने का विचार किया तब इन्हे कुछ ग्लानि सी मालूम हुई फिर भी इन्हे भाषा का माध्यम ग्रहण ही करना पड़ा और इन्होंने सस्कृत तथा प्राकृत से बाद वाले भाषा के रूप (जिसे कि इन्होंने 'अवहट्ठ' या 'देसिल बअना' कहा है) को लेकर ही प्रथम रचनाएँ कीं। फिर भी इनमें कहीं-कहीं सस्कृत के सुदंर मनोहर श्लोकों का सन्निवेश करना यह नही भूले। इस 'अवहट्ठ' में दो काव्य लिखे गए—'कीर्तिलता' तथा 'कीर्तिपताका' जिन का वर्णन बाद मे आवेगा। यद्यपि यह साहित्य की भाषा समझ कर लिखी गई थी तथापि जन समाज

[1] 'पितृव्यहरिमिश्रोपदिष्टः'—'चिंतामणि-आलोक' के प्रारंभ में।

में 'अवहट्ट' भाषा उतनी प्रिय नहीं थी जितनी कि नित्य बोलने और लिखने में व्यवहृत विद्यापति की मातृ-भाषा शुद्ध मैथिली। अतएव उन्होंने अब भाषा की कविता मैथिली में करना आरंभ कर दिया।

मिथिला के राजा और रानी अपनी मातृभाषा मैथिली में रचित कविता को सुन कर उसके माधुर्य तथा सरलता एवं सरसता से बड़े प्रसन्न रहा करते थे, और नित्य कवि के उत्साह को बढ़ाते थे। फिर क्या था? चांद्रीकला के समान विद्यापति की सरस कविता प्रत्यह बढ़ने लगी और सहृदय श्रोताओं को आनंदामृत से आह्लादित करने लगी। कवि ने अपनी कविता के संबन्ध में स्वयं कहा है—

करोतु (?ति) कवितुः काव्यं भव्यं विद्यापतिः कविः।[1]

(कवि विद्यापति आनन्द देने वाली कविता करते हैं।)

ई (विज्जावइभासा) णिच्चइ नाअर मनमोहइ।[2]

(विद्यापति की यह भाषा अवश्यमेव सहृदय नागरिकों के मन को मोह लेती है।)

इतना सुन्दर काव्य करने पर भी विद्यापति को अपनी कविता का गर्व नहीं था। उन्होंने कहा है, "जैसे-तैसे मेरा काव्य प्रसिद्धि को पावे यही मेरे लिए भला है"

ते मोज भलओं निरूढ़ि गए, जइसओ तइसओ कव्व[3]

फिर भी कहा है—

जइ सुरसा होसइ मझु भासा जो बुज्झिह सो करिह पसंसा[4]

१-४ 'कीर्तिलता', प० १, पृ० ४

(यदि मेरी भाषा अच्छी रस वाली होगी तो निश्चय ही जो समझेगा वह उसकी प्रशंसा करेगा।)

विद्यापति की कविताएं महाराज शिवसिंह तथा उनकी रानी लखिमा के समय में पूर्ण विकास को प्राप्त हुईं इसीलिए कवि की अधिकांश कविताएं उन्हीं के नाम से मिलती हैं। महाराज देवसिंह के समय से ही विद्यापति की मैथिली कविताएँ मिलती हैं।

कहा जाता है कि एक बार शिवसिंह को यवनेश्वर से छुड़ाने के लिए कवि को दिल्ली जाना पड़ा। वहाँ जाकर कवि ने अपनी कविता से तत्का-लीन मुसलमान बादशाह को प्रसन्न कर 'शतावधान' की पदवी पाई। यहीं पर कवि को मलिक बहारुद्दीन नामक एक अच्छे गायक से परिचय हुआ था, जैसा कि कवि ने कहा है—

'विद्यापति' कवि रभसे गाव, मलिक 'बहार दिन' बुझ ई भाव।[1]

शिवसिंह को छुड़ा कर जब विद्यापति अपने देश को आए, और जब शिवसिंह २९३ ल० सं० में राजा हुए उसी समय इन्हें बिसपी ग्राम राजा ने दिया। यहीं प्रथम बार राजा ने इन्हे 'अभिनवजयदेव' की पदवी दी। इनसे पूर्व में 'गीत-गोविन्द'कार वंगदेशीय जयदेव हो गए थे अतएव इन्हें 'अभिनव' कहा। शिवसिंह से इनका इतना स्नेह बढ़ा कि विद्यापति ने इन्हीं को अपना आश्रयदाता माना और कहा भी है—

पंचगौडाधिप सिवसिंह भूप कृपा करि लेल निज पास।
बिसपी ग्राम दान कएल मोहि रहइत राजसनिधान॥

इनकी कविता से शिवसिंह इतने मुग्ध हो गए थे कि 'सुमति' नामक

---

[1] **'विद्यापतिपदावली' (नगेंद्रनाथ सं०), ४३८**

एक कलावान कायस्थ के पुत्र 'जयत' को राजा ने विद्यापति के पास नियुक्त कर दिया था जिसमें विद्यापति की बनाई हुई सभी कविताओं को मिथिला-देशीय राग-रागिनियों में मिला कर गावे तथा राजसभा में तथा अन्तःपुर में सब को विद्यापति-रचित कविताएँ सुनाया करे।[1]

शिवसिंह के राज्यारोहण काल में विद्यापति ने जो 'अवहट्ट' में कविता की थी, उसका परिचय दे चुका हूँ[2]। अब शिवसिंह तथा मुसलमानों के बीच जो लड़ाई हुई थी उसका जो विद्यापति ने सुन्दर वर्णन किया है उसे पाठकों को सुनाता हूँ।

> **दूर दुग्गम दमसि[3] भञ्जेओ गाढ़गढ़ गूढ़ीअ[4] गञ्जेओ[5]**
> **पातिसाह ससीमसोमा[6] समर दरसेओ रे।**
> **ढोल तरल[7] निशान[8] सद्दहि[9] भेरि काहल[10] संख नद्दहि[11]**
> **तीनि भुअन निकेत केतकि सन भरिओ रे[12]।**
> **कोह[13] नीर पयान चलिओ वायु मध्ये राय गरुओ[14]**

---

[1] 'लोचन-रागतरंगिणी', पृ० ३७ (दरभंगा राजसंस्करण)।

[2] देखिए ऊपर पृ० २४ फुटनोट १

[3] मेघ के समान गरज कर। [4] कठिन। [5] भर्त्सना किया।

[6] राज्य की सीमा पर्यंत।

[7] चंचल; संभव है कि यहां किसी बाजे के अर्थ में प्रयुक्त हो।

[8] = निःस्वन = डंका के समान वाद्यविशेष।

[9] शब्द करते हैं। [10] डंका। [11] शब्द करते हैं।

[12] त्रिभुवनरूप घर केतकी पुष्प के समान (सुगंध से) भर गया। [13] खोह = पर्वत का कंदरा। [14] राजा गरुड़

तरणि तेअ[१] तुलाधार[२] परताप गहिओ रे।
मेरु कनक सुमेरु कम्पिय धरणि पूरिय गगन झम्पिय[३]
हाति तुरअ पदाति पयभर[४] कमन[५] सहिओ रे।
तरल तर तलवारि रङ्गे विज्जुदाम[६] छटा तरङ्गे,
घोर घन सङ्घात वारिस काल दरसेओ रे।
तुरअ कोटि चाप[७] चूरिय चारि दिस चौ विदिस[८] पूरिअ,
विषमसार आसार धारा[९] धोरनी[१०] भरिओ रे।
अन्ध कूअ कवन्ध[११] लाइअ[१२] फेरवि[१३] फफूफरिअ गाइअ[१४],
रुहिरमत्त परेत भूत वेताल विछलियो[१५] रे।
पार भइ परिपन्थि गञ्जिअ[१६] भूमि मण्डल मुण्डे मण्डिअ,

---

[१] तेज।

[२] तुल्य। [३] ढक गया। [४] पद भर। [५] कौन।

[६] विद्युद्दाम = बिजली। [७] टाप। [८] चारों दिशाओं के मध्य की दिशाएँ।

[९] भयंकर वाणों की लगातारवृष्टि। [१०] धरणी।

[११] विना शिर का शरीर = धड़। [१२] लाए गए = फेंके गए। [१३] सिआर।

[१४] सिआरों ने अपने शब्द में गाया। [१५] अलग-अलग किए या फिसलने लगे।

[१६] शत्रुओं की भर्त्सना की।

चारु चन्द्र कलेव कित्ति सुकेतकी तुलिओो रे[1]।
राम रूपे स्वधम्म रखिअ दान दप्पे दधीचि वखिअ[2],
सुकवि 'नव-जयदेव' भनिओो रे।
देवसिंहनरेन्द्रनन्दन शत्रु-नरवइ-कुल-निकन्दन,
सिंह सम सिवसिंह राया[3] सकल गुनक निधान गनिओो रे।

यद्यपि इनका जीवन केवल राज-दरबार में ही राजाओं के साथ व्यतीत हुआ किन्तु शिवसिंह के साथ इनका जितना प्रेम था उतना और किसी दूसरे राजा से नहीं था। इसीलिए शिवसिंह के मरने पर कवि ने उनके परिवार को नहीं छोड़ा और उनकी रक्षा के लिए जितना प्रयत्न हो सका सब करते रहे। लगभग २९९ ल० सं० में राज बनौली में जब लखिमा को लेकर पुरादित्य की शरण में विद्यापति थे, वहाँ की एक घटना उल्लेख योग्य है। उस स्थान में जलाशय पर्याप्त नही था, इसलिए विद्यापति ने एक बड़ी पुष्करिणी वहाँ खुदवाई, और उसके यज्ञ में बड़े-बड़े मिथिला के विद्वान् एकत्रित हुए। अर्जुन नामक एक बौद्ध मत का राजा वहाँ ससरी में राज करता था, उसके साथ जो और भी बौद्ध थे, सभों ने मिल कर इस यज्ञ में बड़ा उपद्रव किया। वहां पहले तो शास्त्रचर्चा चली जो पीछे भयंकर युद्ध में परिणत हो गई, और अंत में दोनवारवंशीय मैथिल ब्राह्मण राजा पुरादित्य की सहायता से बौद्ध लोग मार भगाए गए और उनका राजा अर्जुन युद्ध में मारा गया।[4] उसका धन

[1] चंद्र की सुंदर कला के समान इन की कीर्ति की पताका फहराई गई; सुकेत—अच्छा झंडा।

[2] तिरस्कार किया। [3] राजा।

[4] आश्चर्य है कि कवि की दो तीन कविताओं में अर्जुनराय

सब ब्राह्मणों को बाँट दिया गया। सतरी परगना पुरादित्य के राज्य में मिला दिया गया। यहीं पर विद्यापति ने २९९ ल० सं० में 'लिखनावली' लिखी थी।

का नाम आदर से लिया गया है (देखिए-'विशुद्ध विद्यापति पदावलि' ८६ पद तथा नगेन्द्रनाथ गुप्त ९९, ३००, ७२१, ७२५ पद)।

श्रीविपिनविहारी मजुमदार का कहना है कि पुरादित्य के यहाँ आने से पहले विद्यापति प्रभृति अर्जुनराय के यहाँ रहे, परन्तु बाद को उसको छोड़ कर ये सब पुरादित्य की शरण में गए।

लिखनावली के दोनों पाठ ऐसे हैं—दरभंगा के मुद्रित संस्करण का पाठ—

जित्वा शत्रुकुलं तदीयवसुभिर्येनार्थिनस्तर्पिताः,
दोर्द्दर्पार्ज्जितसप्तरीजनपदे राज्यस्थितिः कारिता।
सङ्ग्रामेऽअर्जुनभूपतिर्विनिहतो बौद्धो नृशंसायित-
स्तेनेयं लिखनावली नृपपुरादित्येन निर्म्मापिता॥

मजूमदार महाशय का पाठ—

जित्वा शत्रुकुलं तदीयवसुभिर्येनार्थिनस्तर्पिताः,
दोर्दण्डार्जितसप्तरीजनपदे राज्यस्थितिः कारिता।
संग्रामेऽर्जुनभूपतिर्विनिहतो बन्धौ नृशंसायितः,
तेनेयं लिखनावली नृपपुरादित्येन निर्मापिता॥

यह तब भी कहना कठिन है कि अर्जुनसिंह वास्तव में कौन थे। क्योंकि एक अर्जुनसिंह को त्रिपुरासिंहसुत भी कवि ने कहा है। कहा जाता है कि त्रिपुरासिंह भवसिंह के कनिष्ठ पुत्र थे।

जिन-जिन राजाओं के साथ विद्यापति रहे थे, प्रायः सब के नामों से उन्होंने कविताएँ रची हैं। इतना ही नहीं प्रत्युत जिन लोगों से—शत्रु या मित्र, हिंदू या मुसलमान—इनका कभी परिचय हुआ था उन सबों के स्मरण-स्वरूप इन्होंने कविता बनाई। इससे यह मालूम होता है कि कवि सब के प्रियपात्र थे, और कवि ने भी सबको अपने हृदय में स्थान दिया था। यहाँ नीचे ऐसे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

१—'देवसिंह' नृप नागर रे
'हासिनिदेइ' कन्त[1]।
२—राजा 'सिवसिंह रूपनरायन'
'लखिमा' देइ पति भाने[2]।
३—'सिवसिंह' राजा पहो रस जानए
'मधुमति देइ' सुकन्ता[3]।
४—बूझ 'सिवसिंह' ई रस रसमय
'सोरम देवि' समाज[4]।

देखिए पृ० २० और पृ० २७ शिवनन्दन ठाकुर कृत महाकवि विद्यापतिठाकुर। तथा न० गु० पृ० ७२१

[1] विद्यापति पदावली, गंगापतिसिंह संस्करण, पृ० ४१, २६७

[2] 'विद्यापति-पदावलि', पृ० १६ (गं० सं०)। [3] वही, पृ० १२२

[4] वही, पृ० १५३; 'रागतरंगिणी', पृ० ६६। 'समाज' शब्द का ऐसे अर्थ में और भी जगह कवि ने प्रयोग किया है। जैसे—राजा सिवसिंह रूपनराएन लखिमादेवि समाज—लोचन 'रागतरंगिणी', पृ० ६३।

५—राजा 'सिवसिंह' मन दए सजनी
'मोदवती देइ' कन्त[1]।
६—'मेधादेवि' पति 'रूपनराअन'
सुकवि भनथि कण्ठहार रे[2]।
७—राजा 'रूपनरायन' जान
राए सिवसिंह 'सुखमा देइ' रमान[3]।
८—अभिनव नागर बुझए रसवन्त
मति[4] 'महेसर' 'रेणुका' देवि कन्त[5]।
९—कवि विद्यापति भान, मानिनि जीवन जान।
नृप 'रुद्रसिंह' बरु मेदिनि कलपन्तरु ॥[6]

रुद्रसिंह प्रायः धीरसिंह के पौत्र तथा जगन्नारायणसिंह के पुत्र 'रुद्रनारायणसिंह' का ही संक्षिप्त नाम था, ऐसा मालूम होता है। क्योंकि विद्यापति के समय में इस नाम का दूसरा कोई नहीं देख पड़ता है।

१०—'कविशेखर' भन अपरुबरूप देखि
राए 'नसरत साह' भजलि कमलमुखि।[7]

---

[1] वि० प०, पृ० २५७, २७२ (गं० सं०)।
[2] वि० प०,सं० ६० (न० संस्करण); 'रागतरंगिणी', पृ० ११२
[3] वि० प०, सं० १२७ (न० सं०)।
[4] मंत्री।
[5] 'रागतरंगिणी', पृ० ४६; वि० प०, पृ० २३७ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।
[6] वि० प०, पृ० २४४, २७२ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।
[7] 'रागतरंगिणी', पृ० ४५;वि० प०, सं ३४ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।

यह कविता विद्यापति की ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। लोचन कवि ने भी इस कविता के अंत में लिखा है—'इति विद्यापतेः'[१]। तथापि यह कहना कठिन है कि वास्तव में यह 'नसरतशाह' कौन थे[२]।

११—भनइ 'विद्यापति' बुझ रसमन्त,
राए 'अरजुन' 'कमला' देवि कन्त।[३]

राजा 'अर्जुनसिंह' देवसिंह के भाई त्रिपुरासिंह के पुत्र थे। जैसा विद्यापति ने कहा है—

१२—भनइ 'सरसकवि' रस सुजान,
'त्रिपुरासिंह' सुत 'अरजुन' नाम।[४]
१३—'विद्यापति' कविवर एहु गावए
होउ उपदेसउ रसमन्ता।
'अरजुन' राए चरण पए सेवहि
'गुना' देवि रानि कन्ता॥[५]

ऊपर कथित 'अर्जुनसिंह' और यह दोनों एक ही राजा का नाम हो

---

[१] 'रागतरंगिणी', पृ० ४५; देखिए, जर्नल ऑव् बिहार उडीसा सोसाइटी भाग २८, पृ० ४२३

[२] 'हिस्ट्री आव् वेंगाल'—चार्ल्स स्टूअर्ट, सेक्सन ४, पृ० १३८-१४२; 'हिस्ट्री आव् तिरहुत', पृ० ८०

[३] वि० प०, सं ३०० (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।

[४] वि० प०, सं० ७२१ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण।

[५] वि० प० सं० ७२५ (नगेंद्रनाथगुप्त-संस्करण)।

सकता है, केवल इतना और कहना होगा कि इनकी दो स्त्रियाँ थीं—'कमला' और 'गुना'।

१४—भन 'विद्यापति' सुन 'रमापति'[1]
सकल गुन निधान।
चिरजिव जिवओ राए 'दामोदर'[2]
दसासए अवधान।[3]

१५—भनइ 'विद्यापति' कवि 'जयराम'।[4]

१६—भन 'विद्यापति' सुनु 'कविराज'।[5]

१७—भनइ 'विद्यापति' सुनहु 'अभयमति'।[6]

---

[1] यह किसी राजा के मंत्री या और कोई विशेष सभासद थे।

[2] यह मिथिला राज्यांतर्गत कोई छोटे राज्य के अध्यक्ष थे।

[3] 'दशशतावधान' उन्हें कहते हैं जो हज़ारों विषयों पर एक साथ ध्यान दें।

[4] वि० प०, पृ० २५८ (गंगानंदसिंह-संस्करण)। 'जयराम' नाम के कोई व्यक्ति विद्यापति के समकालीन कवि मालूम होते हैं। यद्यपि इसका निश्चय अभी नहीं हो सकता है कि ये 'जयराम' कोई और कवि थे या विद्यापति के समकालीन कवि के पोषक मात्र कोई थे। या यह उन्हीं कवि का पद है, विद्यापति का नहीं।

[5] वि० प०, पृ० १०४ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।

[6] वि० प०, सं० २४८ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।

१८—'विद्यापति' कवि भान
'महलम' जुगपति चिरजिव जिवथु
'ग्यासदीन' सुरतान[1]।

यह कविता भी लोचन ने 'रागतरंगिणी' में विद्यापति-रचित मान कर उद्धृत किया है[2]।

ग़यासुद्दीन सुल्तान दिल्ली के राजा सुल्तान सिकन्दर शाह के लड़के थे। १३६७ ईस्वी में ग़यासुद्दीन ने राज्यभार अपने ऊपर लिया और १३७३ ईस्वी तक बहुत अच्छी तरह राज्य किया[3]। अथवा यह वङ्गाल का सुल्तान ग़यासुद्दीन (१३७६-१४१०) था यह निश्चय नहीं कहा जा सकता है।

१९—भनइ 'विद्यापति' होइह दुन रति
पूजव ते पँचवाने।
'रूपिनि' देवि पति मति सिरि 'रतिधर'[4]
सकल कलारस जाने[5]।

२०—'विद्यापति' कवि गावे
'जयमति' देवि वर सन गहि 'सङ्कर'
वुझए सकल रस भावे[6]।

---

[1] वि० प०, स० २६८ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।
[2]—पृ० ५७
[3]—'हिस्ट्री आव् बंगाल'—चार्ल्स स्टूअर्ट, पृ० ११२-११५
[4] ये रतिधर श्रीधर के लड़के थे।—पटना यूनिवर्सिटी जर्नल, भाग १ पृ० १८
[5] वि० प०, सं० ३३३ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।
[6] वि० प०, सं० ३५७ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।

२१—'विद्यापति' कवि रभसे गाव,
'मलिक वहारदिन' बुझ ई भाव[१]।

कहीं-कहीं ये पद भी मिलते हैं:—

२२—'मोदवती' पति 'राघवसिंह' गति,
कवि 'विद्यापति' गाई[२]।

महाराज राघवसिंह धीरसिंह के पुत्र थे। इनकी दो रानियाँ थीं—मोदवती तथा सोनमती—

भनइ 'विद्यापति' बुझ रसमन्त,
'राघवसिंह' 'सोनमति' देवि कन्त[३]।

भनइ विद्यापति सुनह 'तिलोचन' पयपङ्कज मोरि सेवा।
'चन्दल'देइ पति वैदनाथगति नीलकण्ठ हरदेवा[४]।
'चम्पति' पति कह सेहे जुवति वर,गावउ तसु गुनगाम[५]।

'चम्पति' नाम और भी दो जगह मिलता है—'कवि चम्पति कह राहि मनाइते, आप सिधारह कान[६]'—'विद्यापति कवि चम्पति भान, राहि न हेरव तोहर वयान'[७]—

---

[१] वि० प०, सं० ४३८ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।

[२] वि० प०, पृ० २७२ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।

[३] वि० प०, सं० ७२४ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।

[४] 'रागतरंगिणी', पृ० १०८;

[५] वि० प०, सं० ३१४ (न० सं०)।

[६] पद संख्या ४०१ (न० सं०);

[७] वहीं' ३७४

परन्तु इनका कोई परिचय नहीं मिलता है।

इस प्रकार सबों से मिलते-जुलते, अपने परिचित हिंदू और तुरुक, तथा स्त्री और पुरुष दोनों के नाम पर कविता रचते हुए विद्यापति क्रमशः थोड़े ही समय में एक विशिष्ट कवि हो गए। इन की कवित्वशक्ति से मुग्ध हो कर लोगों ने इनके ऊपर उपाधियों की वर्षा करना आरंभ कर दिया। ये उपाधियाँ वहुत प्रसिद्ध हैं—'अभिनव-जयदेव'[1], 'महाराज पंडित'[2], 'सुकवि-कंठहार'[3], 'राजपंडित'[4], 'खेलनकवि'[5], 'सरस-कवि'[6], 'कविरतन'[7], 'नव कविशेखर'[8], 'कवि'[9], 'कविशेखर'[10], 'कंठहार'[11] । 'कविवर'[12]

[1] शिवसिंह का दानपत्र।

[2] वही।

[3] 'रागतरंगिणी', पृ० ५३

[4] वि० प०, सं० ५०६ (नगे० सं०)

[5] कीर्तिलता', पृ० ११४

[6] वि०प०, पृ०१४०, १५६, १७७ (गं० सं०); 'रागतरंगिणी', पृ० १०५

[7] रागतरंगिणी पृ० १०५

[8] वि०प०, पृ० ३, १८१ (गं० सं०); पद सं०४, ४८४ (न०सं०)।

[9] वि० प०, पृ० २४, २६ ३०, ३६, ४१, ४८ इत्यादि (गं०सं०)

[10] वि० प०, पृ० २८, ३६, ७३, ६५, ११५, १२१, १२४ १५०, १५७-५८, १६६, १६८, २०१, २१३, २२०, २८३, (गं० सं०; पद सं० २६, ३४, ११८ (न० सं०)।

[11] वि० प०, पृ० १६१ (गं० सं०)।

[12] वि० प०, पृ० १२२, २६७, (गं० सं०)।

'सुकवि'[1] 'नव-जयदेव'[2] 'कवि-कंठहार'[3] इन नामों से भी कवि ने कविता की है। अनेक पदों में इन उपनामों के साथ-साथ 'विद्यापति' शब्द भी लगा है। इसी से यह अनुमान होता है कि ये सब विद्यापति ही की उपाधियाँ हैं जिन्हें इन के संरक्षक तथा उत्साहवर्धक लोगों ने दिए थे।

प्रायः इन सब उपाधियों का कवि ने अपने शृंगारिक रचनाओं ही के संबंध में प्रयोग किया है। वैराग्यावस्था में जो कविताएँ इन्होंने बनाईं उन में प्रायः न किसी आश्रयदाता राजा या सुल्तान ही का उल्लेख है और न उनके विशिष्ट उपाधियों ही का। इससे ज्ञात होता है कि कवि संसार के नाना प्रकार के सुख-दुःख को भोग कर पश्चात् यथार्थ में संसार से विरक्त हो गए थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि ने संसार में अचल कीर्त्ति प्राप्त कर ली थी।

विद्यापति ने उचित समय पर विवाह भी किया था। इन के तीन पुत्र—वाचस्पतिठाकुर, हरपतिठाकुर तथा नरपतिठाकुर[4] तथा एक कन्या थी। कन्या का नाम 'दुल्लहि'[5] था, यह लोगों की धारणा है।

---

[1] वि० प०, पृ० ३०६, ३१९, ३२२, ३२५ (गं० सं०)

[2] वि० प०, पृ० ३२२ (गं० सं०)।

[3] वि० प०, पृ० ११४, १६१, २३६ (गं० सं०)।

[4] 'पुरुषपरीक्षा', टिप्पणी 'पञ्जीप्रबन्ध' से पृ० २६४

[5] 'दुल्लहि', तोहर कतए छथि माय' इत्यादि। यद्यपि 'दुल्लहि' केवल स्नेहसूचक पुकारने के लिए भी कभी-कभी प्रयुक्त होता है तथापि कह नहीं सकते कि यह कन्या का नाम नहीं है।

वाचस्पति तथा नरपति के सम्बन्ध में अभी कुछ भी पता नहीं लगा है। हरपति अवश्य विद्वान् थे। इन्हों ने 'दैवज्ञबान्धव' नामका एक ज्योतिष का ग्रंथ बनाया था। इन्होंने मैथिली में भी कविता की है, जिसे मैं यहां उद्धृत करता हूं—

आरे विधिवस[1] नयन पसारल[2],
पसरल हरिक सिनेह।
गुरुजन गुरुतर डरे सखि,
उपजल जिवहु[3] सन्देह।
दुरजन भीम भुजङ्गम[4],
वम[5] कुवचन विषसार।
तेंह तीखें विषे जनि माखल,
लाग-मरम कनियार[6]।
परिजन परिचय[7] परिहरि,
हरि-हरि परिहर पास[8]।
सगर नगर बड पुरजन,
घरे-घरे कर उपहास।
पहिलुक पेम क परिभव,
दुसह सकल जन जान।

---

[1] भाग्य से या दुर्भाग्य से। [2] आँख खोला। [3] जीने में भी। [4] भयंकर विषधर सर्प के समान दुर्जन लोग। [5] वमन करते हैं=बोलते हैं। [6] उसी तीक्ष्ण विष में डुबोया गया शर मेरे मर्म-स्थानों में लगा। कनियार=तीक्ष्ण। [7] बोलचाल। [8] समीप

धैरज धनि धर मने गुनि,
कवि 'हरपति' भान ॥१॥[१]

तुअ पिअ सहचरि वुझलिहुँ[२] हमे[३] हरि,
तेँ मोहि पठओलन्हि आज रे।
सुजने विनय जत कहल कहब कत,[४]
तोंहु उत्तर किछु बाज रे,
सुहित वचन लएह मानि[५] रे॥
सुन सुन गुनमति मिलह मधुरपति,
अथिर जउवन धन[६] जानि रे।
अपन अपन गुन सबे सब तह गुन,[७]

आना। [१] कोई-कोई इसे विद्यापति ही की कविता कहते हैं किंतु जब इसमें हरपति का नाम मिलता है तब हम संदेह क्यों करें? हरपति विद्यापति के पुत्र विद्वान थे, यह उनके ग्रंथ ही से मालूम होता है। अपने पिता का अनुकरण यदि इन्होंने किया हो, तो इसमें संदेह ही क्यों?—वि०-प०, सं० २७२ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।

[२] जान कर। [३] मुझ को।

[४] सुजन अर्थात् कृष्ण ने जितना विनय (तुम्हारे लिए) किया, उतना किस तरह तुम से कहूं, कह नहीं सकती।

[५] मान लो।

[६] यौवनरूपी धन स्थिर नहीं रहता।

[७] यह मनुष्य का स्वभाव होता है कि सब अपने-अपने गुणों

निज काचहु कह हेम रे।

से पुनु सवहु चहि[१] गुरुवि गनिय महि,[२]

जे कर परक गुन पेम रे।

कत उपदेसिअ कत परवोधिअ,

तइअओ[३] न मानए बोध रे।

तोँहहि कहह सखि फुललि मालति लखि[४],

के करत भमर निरोध[५] रे।

दुतिक वचन सुनि पिअ गुनगन गुनि;

तसु तनु पसरल भाव रे।[६]

पुलकेँ उतर दए रहलि लाज कए,[७]

कवि 'हरपति' गाव रे ॥२॥

को औरों की अपेक्षा अधिक गिनते हैं, अर्थात् उसका वहुत गौरव करते हैं।

[१] अपेक्षा; से।

[२] पृथ्वी में भारी (बड़ा) माना जाय।

[३] तथापि।

[४] खिली हुई मालती के फूल को देख कर। [५] रोक।

[६] उसके शरीर में सात्त्विक भाव फैल गया।

[७] दूती के वचन को सुन कर नायिका अपने शरीर के रोमाँच ही से उत्तर देकर स्वयं लज्जित हो गई। अर्थात् नायक के गुणगान सुन कर नायिका के हृदय में सात्त्विक भाव भर आया जो रोमांच के रूप में समस्त शरीर में बाहर प्रकाशित हो गया। यही मानो

कितना अच्छा मधुर भाव इन कविताओं में भरा हुआ है। संभव है कि खोज करने पर इन की और भी कविताएँ मिले। इसी प्रकार विद्यापति की चंद्रकला नाम की एक पुत्र-वधू थी। उन्हों ने भी कविता की थी, यह मैथिल कवि लोचन ने अपनी 'रागतरंगिणी' में लिखा है।[1] उसे भी मैं यहाँ उद्धृत करता हूं—

स्निग्ध-कुञ्चित-कोमलं, कच्चगण्डमण्डित-कोमलम्।
अधर-विम्ब-समान सुन्दर, शरदचन्द्रनिभाननम्।
जय कम्बुकण्ठ विशाललोचन, सारमुज्वलसौरभम्।
बाहुबल्लिमृडालपङ्कज, हारशोभित ते शुभम्।
शोभय सुन्दरि मम हृदयं, गद्गदहास सुदति निपुणम्।
उर पीन कठिन विशाल कोमल याति युग्म निरन्तरम्।
श्रीकलाकमला-विचित्र-विधातुनिर्मल-कुचवरम्।
श्यामा सुवेषा त्रिबलि-रेखा जघनभार-विलम्बिते।
मत्तगजकरजघनयुगवर-गमनगतिवरटाजिते।
सुललित मन्द-गमन करइ, जनि पतिसङ्ग वरटा भमइ।
अतिरूपयौवन प्रथम सम्भव किं वृथा कथया प्रिये।
तेजह रूप बिमोह परिहर शोकचिन्तित चिन्तये।
उपयातमदनव्याधि दुस्सह दहए पावक-सेवनम्।
पवन दिसें दिसें दहए पावक युग्म-दार जमम्बरम्।

नायिका ने उत्तर दे दिया। भाव को बाहर प्रकाशित देख कर मुग्धा नायिका लज्जित हो गई।

[1] इति श्रीविद्यापतिपुत्रवध्वाः—'रागतरंगिणी' पृ० ५३-५४

श्यामासवन्दिते अतिसमयगीतसुशोभिते ।
आत्मदानसमानसुन्दरि धार वर्षति सिञ्चये ।
सिञ्चह सुन्दरि मम हृदयं, अधर-सुधामधुपानमिदम् ।
चन्द्रकवि जयदेवमुद्रित मान तेज तोहें राधिके ।
वचन मम धर कृष्ण अनुसर किन्तु काकमलाशुभे ।
'चन्द्रकला' हे वचन करसी, मानिनि माधव अनुसरसी ॥

मैथिली और संस्कृत के मिश्रण का यह एक अच्छा नमूना है। इसी से चंद्रकला की विद्वत्ता का पूरा परिचय भी मिलता है।

इस प्रकार कवि अपने विद्वान परिजनों से पूर्ण हो कर क्रमशः जीवन के अंत आने के पहले कुछ दिन इस संसार से विरक्त हो गए और उन्होंने अवशिष्ट समय में केवल शिव की नचारी और महेशवानी तथा गंगा आदिओं के ही पद बनाए। शिव के ये बड़े भक्त हुए। कहा जाता है कि एक समय इनके पास 'उगना' या 'उदना' नाम का एक सेवक था। उसे साथ लेकर एक बार विद्यापति किसी दूसरे ग्राम को जा रहे थे। रास्ते में उन्हे इतनी प्यास लगी कि कवि व्याकुल हो उठे और उगना से ढुंढ़ कर पानी लाने को कहा। चारों तरफ जंगलों से घिरे हुए उस स्थान[1] में कहीं भी पानी न था। उगना लौट आया। प्यास के मारे घबड़ाए हुए विद्यापति ने फिर उगना से कहा—'फिर से ढूंढ़ो, पानी कहीं से शीघ्र ले आओ।' स्वामी की यह अवस्था देख कर उगना चल पड़ा थोड़ी देर में लौट कर उसने एक लोटा स्वच्छ जल विद्यापति को लाकर दिया। जल पान कर उसके स्वाद से और पीछे उसके स्वरूप

[1] आज भी भवानीपुर सकरी ओ. टी. रेलवे स्टेसन के पास वह स्थान बताया जाता है।

से कवि ने मनमें निश्चय कर लिया कि यह तो गंगाजल है, यह यहाँ कहाँ से आया। उगना से पूछा तो उसने यही बतलाया कि यह एक समीपस्थ कुएँ का जल है। विद्यापति बारम्बार पूछने लगे कि—'ठीक-ठीक बताओ यह जल कहाँ से आया। यह तो गंगाजल है।'

जब उगना ने देखा कि अब पकड़े गए तब उसने सारी बातें कह दीं कि मैं भृत्य के स्वरूप में तुम्हारी भक्ति के वशीभूत शिव हूँ। तुम्हें प्यास से व्याकुल देख, जल का कोई पता यहाँ न पा कर अंत में मैंने अपनी जटासे गंगाजल निकाल कर तुम्हारे पास लाकर दिया है। तुम्हारी भक्ति से मैं इतना वशीभूत हूं कि मैं अभी भी तुम्हारे पास-तब तक रहूंगा जब तक तुम किसी को यह भेद नहीं कहोगे।

विद्यापति ने प्रतिज्ञा की और तब से उन्होंने उगना से कभी ऐसा कार्य नहीं कराया जिस से उनके मन में कुछ खेद हो। कुछ दिन के बाद विद्यापति की स्त्री किसी कार्यवश उगना पर बिगड़ गईं और एक चैला लेकर उसे मारने उठीं। विद्यापति कहीं से यह देख रहे थे, दौड़े और अपनी प्रतिज्ञा को भूलकर कहा कि, "यह क्या करती हो। साक्षात् शिव के ऊपर यह प्रहार करना कितना अनुचित है।" परन्तु बेचारी ब्राह्मणी को इस रहस्य का क्या पता था? वह तो उसे केवल उगना ही समझती थी। फल यह हुआ कि उसी क्षण उगनारूपी शिव अन्तर्धान हो गए और विद्यापति उसके विरह में पागल-से होकर गाने लगे—

'उगना' हे मोर कतए गेला।
कतए गेला सिव किदहु भेला॥
भांग नहिं बटुआ रुसि बैसलाह।
जोहि हेरि आनि देल हसि उठलाह॥

जे मोर कहता उगना उदेस ।
ताहि देवओँ कर कँगना वेस ॥
नन्दन वन में भेटल महेस ।
गौरि मन हरखित मेटल कलेस ॥
'विद्यापति' भन उगना सों काज ।
नहिं हितकर मोर त्रिभुवन राज ॥

अन्त समय में मोक्षदाता शिव का ही भजन करते-करते जब विद्यापति ने अपना मरण समय सन्निकट जाना, तो शास्त्र तथा मिथिला देश के आचार के अनुसार उन्होंने मन में यह निश्चय कर लिया कि 'मरणं जाह्नवीतीरे' ही से यथार्थ में मुक्ति मिल सकती है, अतएव अब गंगादर्शन की यात्रा करनी चाहिए। ऐसा सोच कर, सब से पहले उन्होंने अपनी कन्या से कहा—

'दुल्लहि' तोहर कतए छथि माय,
कहुन ओ आबथु एखन नहाय।
वृथा बुझथु संसार विलास, पल पल नाना तरह क त्रास।
माय बाप जों सदगति पाव, सन्तति कौं अनुपम सुख आव।

'तुम्हारी माँ कहाँ हैं उन्हें स्नान कर अभी आने को कहो।' इत्यादि उनसे अपने मन की बात कह कर यात्रा की तैयारी की और कुल देवी को प्रणाम कर पालकी पर चढ़ गंगायात्रा की। मिथिला के लोग गंगायात्रा या गंगालाभ के लिए समीप होने के कारण वर्तमान सिमरियाघाट जाते हैं। इसलिए विद्यापति भी सिमरिया ही को चले। मालूम होता है कि काशी आने का समय नहीं था। जब 'बरौनी' के पास विद्यापति पहुँचे और मालूम

हुआ कि अब यहाँ से केवल दो कोस पर गंगाजी हैं तो उन्होंने कहा कि मैं तो गंगाजी की खोज में इतना दूर आया, क्या गंगा माता मेरे लिए इतनी दूरी भी नहीं आवेंगी? ऐसा कह कर वहीं ठहर गए। कहा जाता है कि उसी रात में गंगा मे बाढ़ आई और गंगा की धारा ठीक जहाँ विद्यापति ने डेरा डाल रक्खा था वहीं से बहने लगी। दूसरे दिन

'विद्यापति'क आयु अवसान,
कातिक धवल त्रयोदशि जान।

—कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को विद्यापति ने गंगा जी के तट पर नारायणीक्षेत्र में अपनी ऐहिक लीला समाप्त की। इस स्थान पर बाद को एक शिवलिंग (विद्यापतिनाथ) की स्थापना हुई और शिवमन्दिर भी बनाया गया जो कि अभी भी वर्तमान है। गंगा जी की नवीन धारा का चिह्न भी अभी देख पड़ता है।

विद्यापति की रचनाएं

विद्यापति ने तीन प्रकार की भाषा में रचना की है—संस्कृत में (१) भूपरिक्रमा, (२) पुरुषपरीक्षा, (३) लिखनावली, (४) शैवसर्वस्वसार, (५) शैवसर्वस्वसार-प्रमाण-भूत-पुराणसंग्रह, (६) गंगावाक्यावली, (७) विभागसार, (८) दानवाक्यावली, (९) दुर्गाभक्तितरङ्गिणी, (१०) गयापत्तलक तथा (११) वर्षकृत्य; अवहट्ट में (१) कीर्तिलता और (२) कीर्तिपताका, तथा शिवसिंह का राज्यारोहणवर्णन और उन्हीं का युद्धवर्णन, और इनके अतिरिक्त परिष्कृत मैथिली में—पदावली तथा 'गोरक्षविजय' नाम का नाटक। इन सब का संक्षेप में यहाँ परिचय दिया जाता है—

(१) **भूपरिक्रमा**—यह ग्रंथ महाराज देवसिंह की आज्ञा से लिखा गया

था। बलराम जी को शाप के दिनों में जो कथाएँ मिथिला में सुनाई गई थीं उनका वर्णन इसमें लिखा है। मिथिला से नैमिषारण्य तक के सभी प्रधान तीर्थों का भी वर्णन इसमें किया गया है। यह अभी तक अप्रकाशित ही है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति एशियाटिक सोसाइटी, बङ्गाल के पुस्तकालय में है।[1]

(२) **पुरुषपरीक्षा**—शिवसिंह की आज्ञा से लिखी गई थी। यह एक नीतिग्रन्थ है। यह ग्रन्थ नवीन बुद्धि वाले बालकों को नीति का परिचय कराने तथा कामकला में कौतुक रखने वाली पुरस्त्रियों को हर्ष पहुँचाने के लिए कवि ने लिखा है।

इसकी भूमिका में कवि ने कहा है कि चन्द्रातपा नाम के नगर में पारावार नाम का एक राजा था। उसको पद्मावती नाम की एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या थी। कन्या को विवाह योग्य देखकर राजा ने सुबुद्धि नाम के ऋषि से कहा कि 'महाराज! इष्ट कार्यों में अकेले निर्णय नहीं करना चाहिए। सम्भव है मोहवश कोई अनुचित ही कार्य न कर बैठें, क्योंकि मोहवश बड़े-बड़े बुद्धिमान भी अनर्थ कर बैठते हैं, जिससे सुख की हानि होती है। इसलिए हे ऋषि! किस प्रकार का वर अपनी कन्या के लिए ढूढ़ूं, यह आप कहे।' तब ऋषि ने कहा—'राजन्! पुरुष वर करिए।' राजा ने आश्चर्य मे आकर पूछा कि 'क्यों अपुरुष भी कन्या के लिए वर हो सकते हैं?' तब ऋषि ने कहा—'राजन्! इस संसार में बहुत से पुरुष कहलाने वाले पुरुष के आकार के लोग देख पड़ते हैं किंतु वे सब पुरुष नहीं हैं। इसलिए पुरुष को पहचान कर कन्या के वर का निश्चय कीजिए। पुरुष को पहचानने

[1] राजेन्द्रलालमित्र हस्तलिखित पुस्तक सूची ग्रंथ ६ नं ७९

के लिए निम्नलिखित चिह्न हैं—जो पुरुष वीर हो, सुधी हो, विद्वान् हो, तथा पुरुषार्थ करने वाला हो, वही यथार्थ में पुरुष है। इनके अतिरिक्त पुच्छविषाणहीन पशु ही हैं।

इन चार भेदों का चार परिच्छेदों में उदाहरण-प्रत्युदाहरण-सहित कवि ने वर्णन किया है। प्रथम परिच्छेद में वीर पुरुषों की कथा है। वीर चार प्रकार के होते हैं—दानवीर, जैसे—हरिश्चन्द्र तथा विक्रमादित्य, दया-वीर, जैसे—राजा शिवि तथा हम्मीरदेव; युद्धवीर, जैसे—अर्जुन तथा कार्णाटकुल-सम्भव महाराज मिथिलेश नान्यदेव के पुत्र मल्लदेव; तथा सत्यवीर, जैसे—युधिष्ठिर एवं चौहानकुल-सम्भव चाचिकदेव। प्रत्युदाहरण कथा में चोर, भीरु, कृपण तथा अलस कथाएं हैं।

द्वितीय परिच्छेद में 'सुधी' पुरुष के उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण में निम्नलिखित कथाएँ हैं—सप्रतिभ, मेधावी, सुबुद्धि, वंचक, पिशुन, जन्म-बर्बर, तथा संसर्गबर्बर।

तृतीय परिच्छेद में विद्या में निपुण पुरुषों के उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण में निम्नलिखित कथाएं हैं। जैसे—शस्त्रविद्य, शास्त्रविद्य, वेदविद्य, लोकविद्य, उभयविद्य, उपविद्य, गीतविद्य, नृत्यविद्य, इन्द्रजालविद्य, पूजितविद्य, अवसन्न-विद्य, अविद्य, खडितविद्य, तथा हासविद्य।

चतुर्थ परिच्छेद में पुरुषार्थ वालों की कथाएं हैं। जैसे—तात्त्विक, तामस, अनुशयि, महेच्छ, मूढ, बह्वाश, सावधान, कामानुकूल, दक्षिणनायक, विदग्ध, धूर्त, घस्मर, निर्बंधि, निस्पृह तथा लब्धसिद्धि।

इस ग्रथ में प्रायः सभी कथाएँ ऐसी हैं जिन के दृष्टात लोक में सदैव मिल सकते हैं, और इसी लिए सब के हृदयंगम भी हो सकते हैं। लेख-

नशैली सरल तथा मधुर है । कथाएँ बड़ी रोचकता के साथ लिखी गई हैं। इसमें बहुत ही थोड़े ऐसे संस्कृत के शब्द होंगे जिन्हें हमारे कालेज के साधारण विद्यार्थी न जानते हों ।

इस पुस्तक का अनुवाद मैथिली में कविवर चन्दा झा ने; बँगला में फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता के छात्रों के लिए १८१५ ई० में हरप्रसाद राय ने ; अंग्रेजी में लार्ड बिशप टर्नर के विचार से १८३० ई० में राजा कालीकृष्ण बहादुर ने तथा वियापति प्रेस लहेरियासराय से हिंन्दी में हुआ है । इसी से इस ग्रंथ की उपयोगिता मालूम होती है ।

(३) **लिखनावली**—यह ग्रंथ राजबनौली के रहने वाले राजा पुरादित्य की आज्ञा से प्रायः २६६लं० सं० अर्थात् १४१८ ई० में बनाया था । इस ग्रंथ को थोड़े पढ़े हुए लोगों की चिट्ठी-पत्री लिखने की शिक्षा के लिए तथा विद्वानों के आमोद के लिए विद्यापति ने लिखा। जितने प्रकार के पत्र लौकिक व्यवहार में लिखे जा सकते हैं, सब के नमूने इस ग्रंथ में दिए गए हैं। ये सब चिट्ठियाँ संस्कृत ही में लिखी हैं। कुछ ऐसे पत्र हैं जिन से विद्यापति के समकालीन सामाजिक व्यवस्था का भी ज्ञान होता है।

इन पत्रों के पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि मिथिला में एक प्रकार से भृत्य और दासियों का क्रयविक्रय आपस में सेवा के लिए होता था, तथा उसे नियम-बद्ध रखने के लिए कैसे व्यावहारिक-लेख होते थे इसका भी परिचय मिलता है। एक प्रकार से यह प्रथा अभी भी वर्तमान है। भृत्य लोग हल जोतना, जूठा उठाना, पानी भरना, पालकी उठाना इत्यादि सब कार्य करते थे। यह अभी भी करते हैं। किन्तु देश की परिस्थिति का प्रभाव अब यहाँ भी कुछ अंश में देख पडता है। इससे यह भी मालूम होता है कि नवीन निर्जन

स्थान में जाकर लोग बसें इसका भी उद्योग राजा करते थे।[१] उन दिनों मालगुजारी लेने की प्रथा यह थी कि फ़सल वाले भूमि को नाप कर फ़सल के स्वरूपानुरूप मालगुज़ारी लगाई जाती थी[२]।

(४) **शैवसर्वस्वसार**—यह ग्रंथ महाराज पद्मसिंह की स्त्री विश्वासदेवी की आज्ञा से कवि ने लिखा था। इसमें शिव-पूजनादि पर सविस्तर विचार है। यह ग्रन्थ भी अभी अमुद्रित है। इसकी प्रतिया एशियाटिक सोसाइटी, बङ्गाल के पुस्तकालय में[3] तथा दरभंगा राज-पुस्तकालय[४] में हैं।

(५) **शैवसर्वस्वसार-प्रमाणभूतपुराणसंग्रह**—यह ग्रन्थ भी प्रायः शैवसर्वस्वसार का समकालीन है। इसमें प्रमाणों का संग्रह है जिनका कवि ने शैवसर्वस्वसार में उल्लेख किया है। यह भी अमुद्रित ही है। इसकी एक प्रति दरभंगा राज-पुस्तकालय[५] में है।

(२) **गंगावाक्यावली**—यह ग्रन्थ भी विश्वासदेवी की आज्ञा से लिखा गया[६] और अमुद्रित है। गंगाजी की पूजादि के सम्बन्ध में इसमें अभी सब बातें हैं।

(७) **विभागसार**—यह ग्रन्थ महाराज नरसिंहदेव के समय में लिखा गया। इसमें धन का बँटवारा दायादों में किस तरह होना चाहिए, इस पर

---

[१] 'लिखनावली', पृ० ८, पत्र १०

[२] वही पृ० १०, पत्र १२

[3] राजेंद्रलाल मित्र, 'हस्तलिखित पुस्तकसूची', ग्रंथ ६, नं० १९८३

[४] 'मिथिला हस्तलिखित पुस्तकसूची', ग्रंथ १, पृ० ४१६

[५] वही, पृ० ४१८

[६] श्यामनारायण सिंह, 'हिस्ट्री आव् तिरहुत', पृ० १८१-८३; फुटनोट।

विचार है। इसमें दायभाग के अतिरिक्त द्वादशपुत्रलक्षणनिरूपण, अपुत्र-धनाधिकारनिरूपण तथा स्त्रीधनविभागनिरूपण आदि विषयों पर विचार भी हैं। यह ग्रन्थ भी अमुद्रित है। इसकी एक प्रति नैयायिक श्रीजगदीशझा, नवानी, तमोडिया (दरभंगा) के घर में है। और भी अनेक स्थानों में इसकी प्रतियां हैं[१]।

(८) **दानवाक्यावली**—यह ग्रन्थ महाराज नरसिंहदेव की पत्नी रानी धीरमतिदेवी की आज्ञा से लिखा गया था। जितने प्रकार के दान हो सकते हैं-उन सबों के करने की विधि इसमें दी गई है। स्थान-स्थान में समय-समय पर कौन-सा वस्तु दान में दी जाए यह भी इसमें कहा गया है। पाप के कारण आठ प्रकार के विशेष रोग होते हैं, यह इसमें कहा गया है। ये रोग हैं—उन्माद, चर्मरोग (त्वग्दोष), राजयक्ष्मा, श्वास, मधुमेह, भगंदर, उदर तथा मसूरी[२]। म्लेच्छ देश का लक्षण 'विष्णुपुराण' से उद्धृत किया गया है अर्थात् 'जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इनकी व्यवस्था न हो वही म्लेच्छ देश है[3]।' नेपाली कंबल उन दिनों भी बहुमूल्यक समझा जाता था, और राजा महाराजा शाल दोशालों के स्थान में इसे ही दान करते थे। अंततः मिथिला में यही व्यवहार था। विद्यापति ने 'लिखनावली' तथा 'दानवाक्यावली'[४] में इस का विशेष उल्लेख किया है।

कुछ संस्कृत के ऐसे शब्दों का प्रयोग यहां मिलता है जो कि आसानी से

[१] 'मिथिला हस्तलिखित पुस्तकसूची', ग्रंथ १, पृ० ३६८-६९
[२] 'दानवाक्यावली', पृ० ५
[3] 'दानवाक्यावली', पृ० १०-११
[४] वही, पृ० १३५

अन्यत्र नहीं मिल सकता। जैसे 'राहलिः'[1] (अरहड—हिंदी; राहडि—मैथिली) 'साठी'[2] (क्वार का धान—हिंदी; साठी या गम्हडी—मैथिली) 'बीजपूर'[3] (अमरूद-हिंदी; लताम-मैथिली)। १००० पल, २७७ सेर[4] का कहा गया है। 'आराम'[5] उस समीपस्थ बाग़ को कहते हैं जिस में केवल एक ही प्रकार के वृक्ष हों तथा 'उद्यान'[6] उस समीपस्थ बाग़ को कहते है जिस में नाना प्रकार के वृक्ष हों।

इनके अतिरिक्त इस ग्रंथ के पढ़ने से यह मालूम होता है कि उन दिनों कितने प्रकार के वस्त्र होते थे और किन-किन चीजों से ये बनाए जाते थे।

(क) साधारण सूत का वस्त्र—जिसे कार्पासिक वस्त्र[7] कहते थे, इस के अनेक भेद होते थे। आधुनिक विलायती रूई के समान सूत जमाए हुए कोमल तौलियों के समान पहले भी वस्त्र बनता था। जिसे 'तूलवत् कार्प्पासिक वस्त्र'[8] कहते थे। यह रूई के समान कोमल वस्त्र होता था।

(ख) 'सरोमवस्त्र'[9]—रोएँ को सूत के साथ मिला कर रूई के समान कोमल वस्त्र बनाया जाता था।

---

[1] वही, पृ० ११२

[2] वही, पृ० ११३

[3] वही, पृ० ११६—कोई-कोई इसका अर्थ 'नीबू' भी करते हैं।

[4] वही, पृ० १२४

[5] वही' पृ० १५२

[6] वही, पृ० १५३

[7] वही, पृ० २३२

[8] वही; पृ० २३३

[9] वही, पृ० २३३

(ग) 'चौमवस्त्र'[1]—अतसी से बने हुए वस्त्र। मिथिला देश में अभी भी इस प्रकार के वस्त्र के लिए 'तिसिऔटा' शब्द विद्यमान है।

(घ) 'कौशेयवस्त्र'[2]—कोश से निकाले हुए रेशमी सूत के बने हुए वस्त्र।

(ङ) 'कुशवस्त्र'[3]—कुशघास के बने हुए वस्त्र।

(च) 'कृमिजवस्त्र'[4]—कीड़ों से निकाले हुए रेशमी सूत के बने हुए पट्टवस्त्र। इस में और 'कौशेयवस्त्र' में हम लोगों को कोई विशेष भेद नहीं मालूम होता है, किन्तु विद्यापति ने इनमें भेद किया है। इससे मालूम होता है कि 'कौशेयवस्त्र' किसी विशेष कोश से सूत निकाल कर बनाया जाता था, और 'कृमिजवस्त्र' कीड़ों से निकाले हुए रेशमी सूत का बना हुआ वस्त्र होता था।

(छ) 'मृगलोमजवस्त्र'[5]—हरिण या अन्य किसी पशु के रोऍं से बना हुआ। वस्त्र।

(ज) वृक्षत्वक् संभववस्त्र'[6]—पेड़ों के खाल से बना हुआ वस्त्र जिसे हम वल्कलवस्त्र भी कहते हैं।

(झ) 'आविकवस्त्र'[7]—भेड़ के रोऍं से बना हुआ ऊनी वस्त्र।

(९) **दुर्गाभक्तितरंगिणी**—यह ग्रंथ महाराज भैरवसिंह की आज्ञा से लिखा गया। मुद्रित भी हुआ है। मिथिलादेश में दुर्गा की पूजा बड़ी धूम-धाम से होती है, विशेष कर आश्विन के शारदीय-नवरात्र में तथा वासंतिक चैत्र के नवरात्र में। इस पूजा के समस्त विधान को कवि ने इस ग्रन्थ में लिखा है।

---

[1] 'दानवाक्यावली', पृ० २३४
[2] वही। [3] वही।
[4] वही। [5] वही।
[6] वही, पृ० २३५ [7] वही; पृ० २३६

(१०) **गयापत्तलक**—यह ग्रन्थ, ठीक पता नहीं कि किसकी आज्ञा से कवि ने लिखा है। अभी तक यह भी असुंद्रित है। इस में गयाश्राद्ध-सबंधी सभी बातों की विवेचना है। यह पुस्तक भी अनेक स्थानों में पाई जाती है। एक तो मेरे ही पास है, और दूसरी पंडित श्रीशिवेश्वरझा (लालगंज, झंझारपुर, दरभंगा—मिथिला) के यहाँ[1]।

(११) **वर्षकृत्य**—यह भी असुद्रित है। इस में साल भर के सभी शुभ कर्मों का विधान दिया हुआ है, और पूजा, व्रत, दान आदि सभी के नियम बताए गए हैं।

(१२) **कीर्त्तिलता**—यह ग्रंथ महाराज कीर्त्तिसिंह के लिए लिखा गया था। कवि ने स्वयं कहा है 'महाराज कीर्त्तिसिंह काव्य सुनने वाले, दान देने वाले, उदार तथा कविता करने वाले हैं। इनके लिए सुंदर मनोहर काव्य की रचना कवि विद्यापति करते हैं'।[2] इसी के अनुसार इस काव्य में कीर्त्तिसिंह की वीरता का वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ का अंग्रेजी बगला तथा हिंदी अनुवाद भी हुआ है।

संक्षिप्त में इस ग्रथ का विषय यह है कि महाराज गणेश्वरसिंह को ल० सं० २५२ में असलान नामक एक मुसलमान ने राज्यलोभवश मार डाला किंतु बादमें वह बहुत पछताया और उसने राज्य लौटा दिया। राजा के दोनों पुत्र वीरसिंह तथा कीर्त्तिसिंह ने ईर्ष्यावश इसका बदला लेनेके अभिप्राय से उसे

---

[1] 'मिथिला हस्तलिखित पुस्तकसूची'; ग्रंथ १, पृ० ९२-९३

[2] श्रोतुर्दातुर्वदान्यस्य कीर्त्तिसिंहमहीपतेः।
करोतु (? ति) कवितुः काव्यं भव्यं विद्यापतिः कविः॥
—कीर्त्तिलता, पृ० ४, नागरी-प्रचारिणी सभा-संस्करण।

अंगीकार न किया। ये दोनो भाई स्वयं इतने प्रौढ़ नहीं थे कि इसका बदला बिना किसी अन्य सहायक के ले सकते। इसलिए अपनी माता से आज्ञा ले, अपने सब से छोटे तीसरे सोदर भाई राजसिंह[1] के ऊपर सब भार दे, तिरहुत के स्तंभरूपी विचक्षण मत्री, मंत्री आनंदखान, मित्र हंसराज, गुण से गुरुता को प्राप्त मंत्री गोविंददत्त, शिवभक्त हरदत्त, धर्माधिकारी हरिहर, नीतिनिपुण अमरेशझा, तथा न्यायसिंहराउत[2] सब को घर पर माता की सेवा में रख दोनों भाई वहाँ से पैदल ही जौनपुर को, जहाँ मिथिला का अधिपति इब्राहीम शाह रहता था, चल पड़े। मार्ग में अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हुए ये दोनों भाई जौनपुर पहुँचे। दरिद्र बालकों के समान, असहाय ये दोनों मार्ग में जा रहे थे और मार्ग के लोग इन्हे देख दयार्द्र होकर इन के सहायक होते थे। कवि ने कहा है[3]—

पाञे[4] चलु दुअओ[5] कुमर,
हरिहर सबे सुमर।
बहुल छाड़ल पाटि पातरें[6],

[1] 'सिरि अह्म सहोअर राजसिंह'—कीर्त्तिलता, पृ० ७४

[2] 'कीर्त्तिलता', पृ० ७२-७४

[3] 'कीर्त्तिलता' पृ० २४

[4] पैर से =पैदल ही; 'ञे' तृतीयाकारक का चिन्ह है।

[5] यह शब्द अभी भी मैथिली में इसी स्वरूप में प्रयुक्त होता है।

[6] बहुत से पाँतरों को पार कर; 'पाँतर' मैथिली में ऐसे प्रांत को कहते हैं जो दूर तक फैला हो, तथा उतनी दूर में कोई गाँव या टोल, छाया, जलाशय आदि न हो। एक प्रकार से दूरतक विस्तृत

वसने पाओल आँतरे आँतरे [1]
जहाँ जाइअ [2] जेहे [3] गाओ, [4]
भोगाइ रजाक वड्डि नाओ । [5]
काहु [6] कापल [7] काहु घोल, [8]
काहु सम्बल [9] देल थोल [10] ।
काहु पाती मेलि पैठि [11]
काहु सेवक लागु भैठि । [12]
काहु देल ऋण उधार,
काहु करिअहु नदीक पार ।
काहु ओ वहल भार बोझ, [13]
काहु वाट [14] कहल सोझ । [15]

निर्जन स्थान को 'पाँतर' कहते हैं। इसका शुद्ध संस्कृत शब्द 'प्रान्तर' है—'प्रान्तरं दूरशून्योऽध्वा', अमरकोष—भूमिवर्ग, श्लोक १७; 'दूरशून्यछायाजलादिवर्जितमार्गस्य'—रामाश्रमीटीका।

[1] बीच-बीच में रहने को पाया। [2] जाते थे। [3] जिस। [4] गाँव। [5] भोगेश्वर राजा का बड़ा नाम था। [6] कोई। [7] कपड़े।

[8] मट्ठा—यह शब्द विद्यापति के समय में 'मट्ठा' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता था।—'चंडेश्वरठक्कुर तथा मैथिली', इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़, पृ० ३५४

[9] सामग्री। [10] थोड़ा। [11] कोई इनके पंक्ति में मिल गया।

[12] कुछ सेवक आकर मिलने लगे। [13] किसी ने बोझा-भार ढो दिया। [14] मार्ग। [15] सीधा।

काहु आतिथ्य विनय करु,[1]
कतेहु दिने वाट सन्तरु।[2]

चलते-चलते जोनापुर (जौनपुर) पहुँचे। नगर का चहल-पहल देख लुब्ध हो गए। समृद्धिशाली नगर के हर एक अंग को देखते हुए यह दोनों भाई बाजार में पहुँचे, जिसका वर्णन करते हुए कवि ने कहा है[3]—

हाट करेओ प्रथम प्रवेश। अष्टधातु घटना टाङ्कार, कँसेरी, पसराँ[4] कांस्य क्रेङ्कार,[5] प्रचुर पौरजनपद सम्हार सम्हीन्न,[6] धन-हटा, सोनहटा, पक्वानहटा, मछहटा करेओ सुखरव कथा कहन्ते होइअ झूठ जनि गम्भीर गुर्गुरावर्त कल्लोल कोलाहल कान भरनो, मर्यादा छाडि महार्णव उँठ।

अर्थ—बाजार मे पहले प्रवेश करते ही आठों धातुओं से वस्तु बनने का टंकार, कसेरों के दूकान में काँसा का क्रेकार शब्द, अनेक नगर-वासियों के समूह से खचाखच भरे हुए धन के बाज़ार, सोने के बाज़ार, पक्वान्न के बाज़ार तथा मछली के बाज़ार से होते हुए, आनंदपूर्वक बात चीत करते हुए चले। लोगों को तो झूठ मालूम होगा, (परंतु यथार्थ में) मानो जैसे

---

[1] किया। [2] (इस प्रकार) कितने ही दिनों में रास्ता पार किया।
[3] 'कीर्त्तिलता' पृ० २८-२९
[4] लोहार तथा बढ़ई के दूकान के फैलाव को मैथिली में पसराँ कहते हैं।
[5] कांस के वर्तन को रगड़ने आदि से जो शब्द उत्पन्न होता है।
[6] संभार—संभिन्न।

गंभीर गुड़गुड़ाती हुई लहरों के कोलाहल से कान भर रहा था, (मालूम होता था कि) समुद्र अपनी मर्यादा को छोड़ कर उठ आया हो।

फिर भी देखिए[1]—

मध्यान्हे करी वेला संमद्द साज, सकल पृथ्वीचक्र करेओ वस्तु विकाएँ आए वाज। मानुस क मीसि[2] पीसि[3] वर आँगे आँग। उँगर आनक तिलक आनकाँ लाग। यात्राहूतह[4] परस्त्रीक बलया भाँग। ब्राह्मण क यज्ञोपवीत चाण्डाल हृदय लूल[5]। वेश्याहिन करो पयोधर जटोक हृदय चूर। इत्यादि।

कवि ने हाट-बाजार के, विशेष कर वेश्याओं की चेष्टाओं के वर्णन में ऐसी चतुरता दिखाई है कि कही नहीं जा सकती।

इसके वाद कवि 'किछु बोलओ तुरुकाणओ लख्खण'—अर्थात् कुछ तुर्कों के लक्षण कहते हैं —

कहीं कोटि गन्दा कहीं वांदि वन्दा
कहीं दूर निकवारिए[6] हिन्दु गन्दा।
तही तथ्थ कूजा तवेल्ला पसारा;[7]
कहीं तीर कम्माण दोक्काणदारा।

---

[1] पृ० ३०। [2] भीड़। [3] कुचल कर। [4] जाने-आने में।

[5] स्पर्श करता था।

[6] निकाल बाहर कर देते थे।

[7] वहां कहीं पूजा और तवेलों का फैलाव था।

तौल्लन्ति[१] हेरा लसूला[२] पेआजू।
षरीदे ख़रीदे बहूता गुलामो,
तुरुक्कें तुरुक्कें अनेको सलामो[३]।
अबेबे भणन्ता[४] सरावा पिवन्ता,
कलीमा कहन्ता कलामे जिअन्ता।
कसीदा कटन्ता[५] मसीदा भरन्ता,[६]

---

[१] तौले जाते थे। संस्कृत प्रत्यय के समान इस में भी 'न्ति' लगाया गया है। इस तरह के प्रयोग विद्यापति की भाषा में पर्याप्त मिलते हैं।

[२] लशुन।

[३] बहुत से दास ख़रीदने आते थे और तुर्कों में आपस में खूब सलामें होती थीं। इनमें यह देखा जाता है कि जब कभी मिलेंगे, चाहे एक दिन मे दस बार, तब हर एक बार आपस में सलाम करेंगे। यह मुसलमानी सभ्यता है।

[४] इस तरह की बोल-चाल भी मुसलमानी सभ्यता का चिन्ह है।

[५-६] कसीदा काढ़ना भी मुसलमानी सभ्यता के अंतर्गत है। और इसी प्रकार मसीद भरना भी। ये सब बातें यद्यपि संयुक्त प्रांतों में अच्छी समझी जाती हैं, लोग व्यवहार में लाते हैं; किन्तु ये सब मिथिला में अभी भी निंदनीय समझी जाती हैं और हिन्दूओं के उचित ये कर्म नहीं कहे जाते हैं।

कितेवा[1] पढ़न्ता तुरुक्का अनन्ता ॥

और भी—

हीन्दू तुरके मिलल वास,
एकक धम्मे अओका उपहास।
कतहु वांग कतहु वेद,
कतहु विसिमिल कतहु छेद।
कतहु ओझा कतहु षोजा,
कतहु नकत कतहु रोजा।
कतहु तम्वारु कतहु कूजा,
कतहु निमाज कतहु पूजा।
कतहु तुरुक वरकइ,
वाट जाइते वेगार धर।
धरि आनए वाभन वटुआ,
मथां चडावए गाइक चुडुआ।
फोट चाट जनउ तोड,
उपर चड़ावए चाह घोड़।

इस तरह बाजार देखते-देखते दरबार में पहुँचे। वहाँ जा कर इन्हों ने देखा कि नाना देश-प्रदेश के दरबारी कर्मचारी सब अपने-अपने स्थान पर बैठे थे। लोग आते थे, कोई बैठते थे और कोई अपना कार्य कर चले जाते

---

[1] 'कितेबा' शब्द मात्र ही में कवि का तात्पर्य है। हिन्दू सभ्यता के उचित शब्द 'पुस्तक' या 'पोथी' है न कि 'किताब'। परंतु इन प्रांतों में ठीक इस का विपरीत व्यवहार है।

थे। वहाँ सब से बड़ा बादशाह था। राजदरबार की सजावट देख कर ये राजकुमार लुब्ध हो गए। और लोगों से पूछ-पूछ कर वहाँ का सब हाल जानने लगे। आशालता पनप गई। रात को उसी नगर में एक ब्राह्मण के घर में इन लोगों ने डेरा डाला।

सवेरा होते ही ये लोग वजीर के पास गए और उनसे इन्होंने अपना सब उद्देश्य कह सुनाया। बाद को मंत्री की सलाह से शुभ मुहूर्त में एक घोड़ा और सुंदर वस्त्र ले कर बादशाह से मिले। बादशाह ने प्रसन्न हो कुशल-वार्ता पूछी। नम्र हो कर बार-बार प्रणाम कर कीर्तिसिंह ने सब वृत्तांत कह सुनाया, बादशाह की प्रशंसा की और 'असलान' के प्रति उनकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित की।

झट आदेश हुआ—'अपने साँठि सम्पलहु तो तिरहुत्ति पआन'[1]। बड़ा हलचल मच गया। सब लोग युद्ध के लिए घबड़ा उठे। सब तैयारी हो गई। सुलतान इबराहीम शाह की तख्त चल पड़ी और

> **गिरि टरइ महि पडइ नाग मन कंपिआ,**
> **तरणि रथ गगन पथ धूलि भरे झंपिआ।**
> **तबल्ल शत वाजकत भेरि भरे फुक्किआ,**
> **प्रलय घण सद्द हुअ णर रव लुक्किआ। इत्यादि।**

बादशाह चारों ओर घूमते हुए शत्रुओं को जीत कर उन की संपत्ति अपने अधीन करते हुए आगे बढ़े। दोनों राजकुमार भी इन के साथ-साथ घूमने लगे। इस यात्र के वर्णन में कवि ने कहा है कि देश की दशा इस तरह की हो गई थी कि—

---

[1] डा० विपिन विहारी मजुमदार का कहना है कि इब्राहीमशाह १४०२ ई० में गद्दी पर आए और इसके बाद उन्होंने तिरहुत पर चढ़ाई की।

सेरें कीनि पानि आनिअ, पीवए परो कापडे छानीअ।
पान क सए सोनाक टङ्का,[1] चान्दन क मूल इन्धन विका ॥
बहुत कौडि कनिक थोड, घीवक वेचाँ दीअ घोंड[2]।
कुरुआ क तेल आङ्ग लाइअ,[3] वाँदी वड दासओ छपाइअ ॥

इस प्रकार सर्वत्र दूर देशों में तुर्कों के साथ ये दोनों राजकुमार घूमते रहे। प्रायः फलमूल ही इनका आहार था। तुर्कों के साथ रह कर बड़ी कठिनता से इन्हों ने आचार की रक्षा की।[4] बड़ी दुर्दशा को प्राप्त हुए—

सम्वर निरवल किरिस तनु अम्वर भेल पुराण।
जवन सभावहि निक्करुण तौ न सुमरु सुरुतान ॥

धन विना कोई चीज खरीद भी नहीं सकते थे। न तो परदेश में ऋण ही मिल सकता था। आत्मगौरव को स्मरण कर भीख भी नहीं माँग सकते थे। अंत में क्या करें, उपवास करने लगे। परिजन भूख के मारे साथ छोड़ कर भाग गए। घोड़ा को घास न मिलने के कारण बहुत दुख होने लगा।

इस अवस्था मे भी कायस्थ श्रीकेशव तथा सोमेश्वर ने कुमारो का साथ न छोड़ा। कीर्तिसिंह को कभी-कभी अपनी मा का स्मरण हो जाता था।

---

[1] टका।

[2] घी के दाम की जगह अपना घोड़ा दे देते थे।

[3] सरसों ही का तेल शरीर में लगाने की प्रथा उन दिनों भी मिथिला में थी, यह इससे स्पष्ट मालूम होता है।

[4] राजा होते हुए भी अपने आचार की रक्षा किस तरह इन दोनों राजकुमारों ने की यह विचारने योग्य है।

वह दुखी हो जाते थे। परतु करते क्या ? अंत में फ़ौज तिरहुत पहुँची। लड़ाई खूब हुई। असंख्य सेना मरी। 'असलान' भाग निकला। कीर्त्तिसिंह ने ललकारा। लेकिन वह लौटा नहीं। कीर्त्तिसिंह उसे प्राणदान देने को घोषित कर दिया। इनकी जीत हुई। शंख की ध्वनि हुई। चारों वेदों के ध्वनि के साथ शुभ मुहूर्त्त में कीर्त्तिसिंह का राज्याभिषेक हुआ।

इस प्रकार 'कीर्तिलता' की कथा समाप्त हुई। कहीं-कहीं वर्णन बहुत रोचक है। मुसलमानों का वर्णन, देश-दशा, युद्धयात्रा तथा कुमारों की दशा के वर्णन का आनंद पढ़ने ही से हो सकता है।

इस की भाषा पर संस्कृत की पूरी छाप है। बहुत विचारने से यह भी मालूम होता है कि कुछ ही ऐसे शब्द हैं जो आधुनिक मैथिली में अविकल रूप में न प्रयुक्त होते हों। सर्वनाम तथा कारक-चिह्न प्रायः पाली तथा प्राकृत से अधिक मिलते हैं। प्राकृत की अपेक्षा पाली का अधिक प्रभाव इस पर मालूम होता है।

(१२) **कीर्त्तिपताका**--यह ग्रथ भी 'कीर्त्तिलता' के समान 'अवहट्ठ' भाषा में महाराज शिवसिंह के समय मे कवि ने लिखा था। इसमें शिवसिंह की कीर्त्तिपताका का वर्णन है। इसकी मिथिलाक्षर में लिखी हुई एकमात्र हस्तलिखित प्रति[1] नेपाल के राज- पुस्तकालय में है, जिसकी प्रतिलिपि मुझे मिली है। यह ग्रथ खंडित है। मध्य में लगभग २२ पत्र इस के नष्ट हो गए हैं। जहाँ-तहाँ और भी छूट है; तथापि पुस्तक अमूल्य है। ऐसी हालत में भी इसकी रक्षा होनी आवश्यक है।

---

[1] यह हस्तलिखित प्रति ल० सं० ४२६ (१५४५ ईस्वी) जेठ वदि ८ की लिखी हुई है।

दोहा, छंद तथा गद्य में यह ग्रंथ लिखा गया है। कहीं-कहीं संस्कृत के श्लोक तथा एक-दो पंक्ति गद्य में भी देख पड़ते हैं। ग्रथ के आदि में कवि ने 'चंद्रचूड़' शिव के अर्ध-नारीश्वर स्वरूप का वर्णन किया है। बाद में गणेश-जी की वंदना कर ग्रंथ आरभ किया है। प्रारंभ ही में कवि ने कहा है—

पण्डिअ मण्डलि बद्धगुणे भीषम कीरमुहेन,
वाणी महुरमहग्घ रस पिअऊ सुअनस बलेन।

इस के बाद कवि ने महाराज शिवसिंहके आचरण का वर्णन करते हुए कहा है--

धम्म देखी व्यवहार लोक नहिं, नहइ परभेद। सब कां घर ऊव्वाह पलटि जनि जम्मिअ। बाहर दाने दलइ। दारिद्द खगो (?) परि पडी खण्डिअ। उस पऊरुस पत्राणे .....तिरहुति मज्जादा वहि रहिअ। करि तुरअ पत्ति पअ भारभरें कुरूसु को वक (?) समसि सहिआ। इत्यादि।

इस के अनतर बहुत दूर तक शृंगाररस का वर्णन है। इसी प्रसग में कवि ने कहा है की रामावतार मे सीता के हरणजन्य विरह से खिन्न रामचद्र ने अपने दुःख को दूर करने के लिए ही कृष्णावतार में गोपियों के साथ नाना प्रकार का भोगविलास किया था।

बाद में फिर सुल्तान के साथ शिवसिंह के युद्ध का बहुत विस्तृत वर्णन अत्यन्त सुन्दर है। सुल्तान का पराजय और शिवसिंह का जय-वर्णन कवि ने अनेक उत्प्रेक्षाओं के साथ गद्य और पद्य में किया है। इसी मे ग्रथ की समाप्ति भी हुई है। अत में कवि ने लिखा है —

एवं श्रीशिवसिंहदेवनृपतेः संग्रामजातं यशो
गायन्ति प्रतिपत्तनि प्रतिदिशं प्रत्यङ्गणं सुभ्रुवः॥

(१४) इसके अतिरिक्त विद्यापति ने एक **'गोरक्षविजय'** नामक

एक चार अङ्क का नाटक लिखा था। इसकी भाषा संस्कृत और मैथिली मिली हुई है। यह केवल १२ पत्र में समाप्त है। इसकी ल० सं० ४६५ का लिखा हुआ ग्रन्थ नेपाल में मिला है।

(१५) **पदावली**—यह कोई एक ग्रंथ के रूप मे नहीं है। विद्यापति ने बाल्यावस्था से लेकर मरणपर्यंत जितनी कविताएँ की उन सबों के संग्रह का यह नाम है। इस प्रकार के संग्रह अब तीन-चार हो गए हैं। बंगला में श्रीनगेंद्रनाथगुप्त का, हिंदी में एक श्रीब्रजनंदनसहाय का दूसरा इंडियन प्रेस, प्रयाग का तथा तीसरा पुस्तक-भंडार, लहरिया सराय का है। किंतु इन सबों के आधारभूत जैसा कि श्रीनगेंद्रनाथगुप्त ने बतलाया है, दो-तीन हस्तलिखित ग्रंथ हैं। एक तो तालपत्र के ऊपर लिखी हुई कविताओं का संग्रह मिथिला से प्राप्त हुआ है। कहते हैं कि यह संग्रह विद्यापति के प्रपौत्र ने किया था। दूसरा प्रमाणिक संग्रह नेपाल राजपुस्तकालय से महामहोपाध्याय स्वर्गीय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त कुछ थोड़े से पद मैथिल कवि लोचन-कृत 'रागतरंगिणी' में भी पाए जाते हैं। इसके पूर्व बंगाल 'कल्पतरु' आदि मे भी कुछ पद संग्रह किए गए थे। इन संग्रहों में जो पद बंगाल से मिले हैं, वे वहाँ की भाषा के मिश्रण से इस प्रकार भ्रष्ट हो गए हैं, कि कहीं-कहीं तो उन पदों का कुछ भी अर्थ नहीं लगता। मिथिला से स्वर्गीय शिवनन्दनठाकुरने एक नवीन पदावली को खोज कर 'मैथिली साहित्य परिषद्' द्वारा प्रकाशित की है। पं०श्रीबलदेवमिश्र, पं०श्रीरमानाथझा और डा०श्रीजयकान्तमिश्र ने और भी पद खोजकर निकाले हैं। इनके अतिरिक्त "मिथिलागीतसंग्रह" मे कतिपय पदों का भी संग्रह किया गया है। पदों की शुद्धता के लिए हमें मिथिला की स्त्रियों ही के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि विद्यापति के पदों की यथार्थ रक्षा

करने वाली वे ही हैं। वे ही परंपरा से इन पदों को श्रुति के समान, सुनती आई हैं, और उन्हे फिर कनिष्ठवर्गों को सुनाती जाती हैं। कहीं-कहीं स्त्रियाँ भी अब इन पदो को लिख कर उनकी रक्षा करने लगी हैं।

विद्यापति के पदों को प्रधान रूप से हम तीन भागों में विभक्त करते हैं— शृंगारिक, भक्ति-रसात्मक तथा विविध-विषयक। जितने पद राधाकृष्ण के नाम से या नायक- नायिका के सबंध में अन्य किसी भी प्रकार से कहे गए हैं, वे सब शृंगारिक हैं। दूसरी श्रेणी में प्रधानतः शिव की महेशवानी एवं नचारियाँ ली जाती हैं। इस के अतिरिक्त दुर्गा, गौरी तथा गंगा के संबंध के पदों का भी समावेश इसी में है, और कुछ थोड़े से पद ऐसे भी हैं जिन में राधा-कृष्ण के अलौकिक भाव का भी वर्णन है। उन्हे भी मैं इसी श्रेणी में रखता हूँ। तृतीय श्रेणी मे बहुत ही थोड़े ऐसे स्फुट पद हैं जिन्हे हम 'प्रहेलिका', 'कूट' इत्यादि कहते हैं। इनके अतिरिक्त और भी कुछ पद हैं, जैसे शिवसिंह का राज्यारोहण-वर्णन, युद्ध-वर्णन आदि। वे सब तृतीय श्रेणी में रक्खे गए हैं।

इन सब का संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जाता है—

(क) **शृंगाररसात्मक**—जब से बाल्यावस्था समाप्त होती है और युवावस्था शरीर में प्रवेश करती है उसी समय से शृंगाररस का आधिपत्य प्रारंभ हो जाता है। धीरे-धीरे जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में अवस्था का विकास उत्पन्न होता जाता है उसी प्रकार रस में भी विकास उत्पन्न होता है। जिस अवस्था मे शरीर का विकास अपनी चरमावस्था को पहुँच जाता है, वही तक शृंगार की राज्यसीमा रहती है। उसके बाद शांतिरस या भक्ति रस का प्रभुत्व आ जाता है। यह एक साधारण नियम है। इस में कभी-कभी वैषम्य भी देख पड़ता है, किंतु वह बहुत ही अल्प।

यद्यपि विद्यापति ने अपने पदों का कोई विभाग नहीं किया था और न तो उन्होंने किसी भाव के क्रम को मन में रखकर कविता की फिर भी यदि हम विद्यापति के पदों का विभाग करें, तो हमें प्रत्येक अवस्था के सूचक पद मिलते हैं। प्रकाशित पदावलियों को देखने से मालूम होता है कि औरों ने भी इसी व्यवस्था पर पदों का विभाग किया है।

इस विचार के अनुसार सब से पहले हमें 'वयःसंधि' ही मिलती है। देखिए कवि ने कैसा अच्छा वर्णन किया है—

सैसव जउवन दरसन भेल,
दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल।[1]
मदन क भाव पहिल परचार,[2]
भिन जन देल भिन अधिकार।
कटि क गौरव पाओल नितम्ब,
एकक खीन अओक[3] **अवलम्ब।**
प्रकट हास अब गोपत भेल,[4]
उरज प्रकट अब तह्निक लेल।[5]

---

[1] शैशव और यौवन इन दोनों मार्ग को देखते-देखते कामदेव ने नायिका के शरीर पर अधिकार करना आरम्भ किया।

[2] कामदेव का यह प्रथम विकास था।

[3] कटि का गौरव नितम्ब ने प्राप्त किया। एक (=नितम्ब) की क्षीणता दूसरे (=कटि) का अवलम्बन होगया।

[4] पहले निर्लज्ज के समान हंसा करती थी, अब वह हंसी गुप्त हो गई (और मुस्कराहट में परिणत हो गई)।

[5] और जो गुप्त था वह उसके स्थान पर प्रगट हो गया।

चरण चपल गति लोचन पाव,
लोचन क धइरज पदतल जाव।[1]
'नव कविशेखर'[2] कि कहइत पार,
भिन भिन राज भिन भिन बेवहार॥

कैसी स्वभावोक्ति है! शृंगाररस का प्रवेश-मात्र भी कितना मनोरंजक है। यह सब के लिए एक-सा है। इस में लौकिक भाव छोड़ और कोई भी भाव नहीं है। नवीन राज्याभिषेक हुआ है। राजा ने आते ही अपने कर्मचारियों को अपना-अपना कर्तव्य बतला कर उनको अपने-अपने स्थानों पर नियुक्त कर दिया।

विद्यापति स्वयं भी बहुत बुद्धिमान थे और अनेक प्रकार के अनुभव भी इन्हें प्राप्त हुए थे। इस लिए मनुष्य के हृद्गतभावों का पूरा परिचय इन्हें मिला था। उसी परिचय के आधार पर इन्हों ने पदों में भी भावों का सन्निवेश किया है।

वयःसंधि के पूर्व भी तो किसी का आधिपत्य नायिका के शरीर पर था। इतने दिनों से जिस पर कोई आधिपत्य रखता आया है वह कैसे भी प्रबल

अर्थ=उरज प्रकट होकर तहिक (=उसका=प्रकट हास्य का) स्थान ग्रहण किया।

[1] चरणों की चंचलता नेत्र ने ली और नेत्रों की स्थिरता चरणों ने ली।

[2] पूर्व में ज्योतिरीश्वरठाकुर 'कविशेखर' हो गए हैं, इस लिए इन्हें 'नव' कहा गया है।

राजा के आते ही से झट क्यों अपना अधिकार हटा लेगा ? बिना युद्ध के तो सुई के छिद्र के बराबर भी स्थान कोई दूसरे को नहीं दे सकता है। इस लिए युवावस्था को शैशवावस्था के साथ बड़ी लड़ाई लड़नी पड़ी। जिस का वर्णन कवि ने किया है—

सैसव जउवन उपजल बाद,
केओ न मानए जय अवसाद।
'विद्यापति' कौतुक बलिहारि,
सैसव से तनु छोड़नहिं पार ॥[1]

अंत में शैशव पराजित हो गया। किंतु नायिका जिन आचरणों से इतने दिनों तक अभ्यस्त थी उन्हे फिर भी भूल से कर बैठती है और नवीन अवस्था का स्मरण कर सम्हल भी जाती है। इसी से कवि कहते हैं—

खने-खन नअन-कोन अनुसरई,
खने-खन वसन धूलि तनु भरई।
खने-खन दसन-छटा छूट हास,
खने-खन अधर आगे गहु वास।
चउँकि चलए खने-खन चलु मन्द,
मनमथ पाठ पहिल अनुवन्ध।
हिरदय मुकुल हेरि-हेरि थोर,
खने आँचर दए खने होअ विभोर।
वाला सैसव तारुन भेट,
लखए न पारिअ जेठ कनेठ।

---

[1] 'विद्यापति-पदावली' पृ० १० (नगानन्दसिंह-संस्करण)।

'विद्यापति' कह सुन वर कान,
तरुनिक सैसव चिन्हइ न जान ॥[1]

अर्थ=वारंवार शीघ्रता से नेत्र कोने में जाता है अर्थात् कटाक्षपात करता है। फिर वारंवार शीघ्रता से (पहले की तरह) वस्त्र के धूल से शरीर को भर लेती है। क्षण-क्षण में खूब जोर से हँस पड़ती है तो क्षण-क्षण में ओष्ठ पर वस्त्र रख कर मुख को छिपाती है। क्षण-क्षण में तो चौंक कर तीव्रगति से चलती है तो फिर मन्द मन्द चलती है। यही कामदेव की शिक्षा का प्रथम फल है। हृदय के छोटे कदम्ब (कुच) को देख देख एक क्षण उस पर अंचल रखती है और दूसरे क्षण में विह्वल होकर भूल जाती है। बालिका के शरीर में शैशव और यौवन दोनों का मिलाप हुआ। छोटे बड़े को कोई पहचान नहीं सकता है।

इस के बाद क्रमिक तारुण्य अंग-प्रत्यंग में अपना आधिपत्य पूर्ण रूप से जमा लेता है, जिस में बाद को किसी प्रकार की अस्थिरता कहीं न देख पड़े। अतएव कवि ने नायिका के तारुण्य का वर्णन करते हुए कहा है—

माधव ! कि कहव सुन्दरि रूपे।
कतेक जतन बिहि आनि समारल,
देखल नअन सरूपे।

अर्थ=शैशव और यौवन मे विवाद उत्पन्न हो गया। कोई भी जय पराजय मानने को तैयार नहीं है। कौतुक की वलिहारी है कि शैशव को उस शरीर को छोड़ना ही पड़ेगा।

[1] वही पृ० १२।

पल्लवराग चरनजुग सोभित,
गति गजराजक भाने।
कनक-कदलि[२] पर सिंह[३] समारल[४]
तापर मेरु समाने।[५]
मेरु उपर दुइ कमल[६] फुलाएल
नाल बिना रुचि पाई,
मनिमय-हार धार वहु सुरसरि[७]
तँह नहि कमल सुखाई॥
अधर बिम्ब सन दसन[८] दाडिम विजु,[९]
रवि[१०] ससि[११] उगथिक पासे।
राहु[१२] दूर वस निअरो न आवथि,
तेँ न करथि गरासे।
सारँग[१३] नअन वअन[१४] पुनु सारंग,[१५]
सारंग[१६] तसु[१७] समधाने[१८]।

---

[२] सोने के केले का स्तम्भ तो नायिका की जाँघ है।
[३] उसके ऊपर सिंह के कटि के समान कटि है। [४]बनाया हुआ।
[५] उसके ऊपर मेरु पर्वत के समान ऊँची भूमि है। [६] स्तन।
[७] मणि का हार ही मानो गङ्गा की धारा है, जो मेरुपर्वत के ऊपर से वह रही है; और उसके संसर्ग से स्तन-रूपी कमल सर्वदा खिला हुआ रहता है।
[८] दांत। [९] अनार के दाने। [१०] सिंदूरबिंदु। [११] मुख।
[१२] केश। [१३] हरिण। [१४] वचन। [१५] कोकिल।
[१६] कामदेव। [१७] उस का। [१८] कटाक्ष में।

सारँग[1] उपर उगल दस[2] सारँग[3]
केलि करथि मधुपाने।
भनइ 'विद्यापति' सुन वर जउआंत
एहन जगत नहि आने।
राजा 'सिवसिंह' रूपनराएन
'लखिमा' देइ-पति भाने।

अर्थ=हे माधव। सुन्दरी के रूप का वर्णन किस प्रकार करूँ। कितने यत्न से विधाता ने इसे लाकर सजाया। आँखों से इसके स्वरूप को देखा। नये पल्लवों के राग के समान इस के दोनों पैर सोभते हैं और इस की चाल तो गजेन्द्र के समान है। सोने के केले के स्तम्भ के समान इस के जँघे पर कटि बनाया हुआ है और उसके उपर मेरुपर्वत के समान उन्नत वक्षःस्थल बनाया और उस पर दो कमल खिला जिस में बिना नाल के भी बहुत शोभा है। नायिका के गले में बहती हुई गंगानदी की धारा के समान मणि के हार रहने के कारण ये दोनों कमल कभी सूखने न पाते। ओष्ठ तो विम्वफल के समान है तथा दाँत अनार के दानों के समान है। सूर्य (सिंदुरविन्दु) तथा चन्द्र (मुख) पास ही में हैं। केश रूपी राहु दूर में रहते हैं समीप नहीं आते। इसलिए सूर्य और चन्द्रका ग्रास नहीं करते हैं। हरिण के नेत्र के समान इसके नेत्र चंचल हैं। इसकी बोली कोकिल की बोली के समान मीठी है। कामदेव उस

---

[1] कमल (ललाट)। [2] दस शब्द यहाँ केवल बहुत्ववाचक है।
[3] भ्रमर (चंचल केशराशि)।

के कहात्त में सावधान हैं। ललाट के ऊपर केशराशि लटक रही है मानो कि भ्रमर कमलमुख के रस का पान कर रहा है। विद्यापति कहते हैं कि ऐसी दूसरी नायिका जगत में और नहीं है।

इस पद में कवि ने शब्दों के प्रयोग में अपनी चतुरता और साथ ही साथ भाव का भी विकास दिखाया है। इस पद को पढ़ने से मालूम होता है कि नायिका को कवि ने सर्वथा शृंगाररस का जीवित चित्र बना लिया है। अब इस में क्रमिक रस संचारित होगा और नाना प्रकार के हाव तथा भाव उद्‌बुद्ध होंगे, जिस से शृंगाररस की पुष्टि होती रहेगी। अस्तु, उक्त कविता कवि के नवीन वयस की रचना मालूम होती है।

शब्द के बाद कवि अर्थ को ले कर जब भाव निकालने चाहते हैं, तब देखिए कैसा आनंद आता है! नायिका को गढ़ने में ही तो यथार्थ परिश्रम है। जब वह सर्वांगपूर्ण हो जायगी तब तो रस आप से आप प्रवाह के साथ बह चलेगा। इसलिए कवि ने कहा है—

> चाँद-सार लए मुख-घटना करु,[४]
> लोचन चकित चकोरे।
> अमिअ धोए आँचरे धनि पोछल,
> दह दिस भेल उँजोरे।[५]

नायिका का मुख चंद्रमा के सारभूत अंश से बनाया गया है। उस में चकोर पक्षी के समान तो चंचल लोचन हैं। जलरूपी अमृत से उस मुख को

---

[४] चंद्रमा का सार लेकर मुख बनाया।

[५] 'विद्यापति-पदावली' पृ० २१ (गंगानंदसिंह-संस्करण)

धोकर जब नायिका ने अपने अंचल से उसे पोंछा,[1] तो दसों दिशा में चांदनी चमकने लगी।

इसी बात को दूसरी जगह कवि ने दूसरे प्रकार से कहा है—

आनि पुनिम-ससि कनक थोए कसि,
सिरिजल तुअ मुख-सारा।
जे सबे उवरल काटि नड़ाओल,
से सब उपजल तारा।
उवरल कनक औंटि वट्टुराओल,
सिरिजल दुइ आरंभा।
सीतल छाह छुइल छुइ छाड़ल,
छाड़ि गेल सबे दंता[2]।

कोई दूती नायिका से कहती है कि हे सखि! पूर्णिमा के चंद्र को सोने के ऊपर घिस कर उस के सार से तुम्हारा मुख बनाया गया है। उस में से जो बचा, उसे टुकड़े-टुकड़े कर फेंक दिया और वे ही तारे बन गए। उसमें से कुछ फिर भी बचा उसे गला कर फिर इकट्ठा कर उससे दो आरंभ-गौरव की वस्तु अर्थात् दो पयोधर बनाए, जिस की शीतल छाया को रसिक ने स्पर्श करना छोड़ दिया। इससे मानिनी के सभी गर्व दूर हो गए।

मुख का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

---

[1] स्त्रियाँ स्नान कर अपने आँचर ही से शरीर पोंछती हैं, इस लौकिक प्रथा को भी कवि ने सूचित किया।

[2] 'विद्यापतिपदावली', सं० ४०५ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।

साकर सूध दुधे परिपूरल
सानल अमिअक सारे ।
सेहे वदन तोर अइसन[1] ॥

हे सखि ! शक्कर से मिला हुआ और शुद्ध दूध से परिपूर्ण अमृत के सार में मिश्रित के समान तुम्हारा मुख है ।

एक मुग्धा नायिका स्नान कर दोनों भुजाओं से शरीर को ढाँक रही है, इसे देख कवि उत्प्रेक्षा करते हैं—

कुच-जुग चारु चकेवा,
निअ कुल आनि मिलाओल कोने देवा ।
तें संकाजे भुज-पासे
बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासे ।[2]

नायिका के दोनों स्तन मानो चक्रवाक पक्षी हैं, किसी विधाता नें भाग्य-वश इन्हें लाकर अपने स्थान पर एकत्रित कर दिया है । कहीं ये फिर उड़ कर आकाश में न भाग जाएँ इस भय से उन्हे नायिका ने अपने भुजाओं से बाँध रक्खा है ।

ऊपर कहा हुआ उदाहरण सद्यःस्नाता के संबंध में है । शृंगारिक विकास उत्पन्न होने के पूर्व सद्यःस्नाता का होना कवि ने बहुत आवश्यक समझा । इस का कारण यह मालूम होता है कि जब तक स्नान कर के सोने के शीशे की तरह शरीर साफ नहीं रहेगा तब तक नायिकोचित भाव हृदय में उत्पन्न ही नहीं होंगे । और यह बात कवि की उक्ति से भी स्पष्ट मालूम होती है—

---

[1] वही सं० ३६१

[2] 'विद्यापतिपदावली', पृ० ३३ (गंगानंदसिंह-संस्करण) ।

बदन पोंछल परचूरे,
माँजि धएल जनि कनक मुकूरे।
तेँइ उदसल कुच जोरा,
पलटि वइसाओल कनक कटोरा ॥[1]
चन्दन चरचु पओधर रे,
गिम गज मुकुता हार।
भसम भरल जनि संकर रे,
सिर सुरसरि जलधार ॥[2]

अर्थात् मुख को बहुत ही अच्छी तरह से पोंछा मानो जैसे कोई सोने के शीशे को साफ कर रखा हो। इस से कुचयुगल अच्छी तरह प्रगट हो गया मानों जैसे उलट कर किसी ने सोने के कटोरे को रख दिया हो।

स्तन में श्रीखंड चंदन लगा कर नायिका के गले में गजमुक्ता का हार रख दिया, मानो भस्म से लिप्त शिव के ऊपर गंगाजी की स्वच्छ धारा बह रही हो।

धीरे-धीरे नायक और नायिका में केवल दर्शनजन्य जो परस्पर प्रेम उत्पन्न होता है उसे भी कवि ने कैसे अच्छे भाव में कहा है—

ससन[3]-परस खसु अम्बर रे,
देखल धनि देह।
नव जलधर तर संचर रे,
जनि बिजुरी-रेह[4]।

---

[1] वही, पृ० ३४

[2] वही, पृ० ४७

[3] श्वसन, वायु। [4] विद्युत्-रेखा—शरीर।

आज देखल धनि जाइत रे,
मोहि उपजल रंग[1]।
कनकलता[2] जनि संचर रे
महि निरअवलंब ॥[3]

वायु के वेग से नायिका का अंचल गिर पड़ा और इसी से नायक ने उस का विद्युत् समान चमकीला शरीर देख लिया। अथवा नायिका ने वस्त्र गिरते ही झट उसे फिर सँभाल लिया। इस थोड़े से समय के बीच मे भी उसके शरीर को नायक ने देख ही लिया। जैसे आँख के सामने विद्युत् चमक कर फिर लुप्त हो जाती है उसी प्रकार नायिका का शरीर देख पड़ा और झट आँखसे ओझल हो गया। नायिका नील वस्त्र पहनी हुई है, इसलिए इसे कवि ने मेघ के समान माना है और कनकलता के समान उसका शरीर उस मेघ के अंदर छिपी हुई विद्युत्-रूप माना गया है।

ऐसे शरीर को देखते ही नायक के मन में प्रेम अंकुरित हो जाता है। इस भाव की बहुत सी कविताएँ विद्यापति ने की हैं। इसी प्रकार नायिका के प्रेमाँकुर का वर्णन कवि ने किया है—

ए सखि ! पेखलि एक अवरूप,
सुनइत मानवि सपन सरूप।
कमल-जुगल पर चाँद क माल,
तापर उपजल तरुन तमाल।

---

[1] प्रेम। [2] नायिका का शरीर।
[3] 'विद्यापतिपदावली', पृ० ४१ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।

तापर बेढ़ल विजुरिलता,
कालिंदी तट धीरे चल जाता।
सखा-सिखर सुधाकर पाँति,
ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति।
विमल बिंबफल जुगल विकास,
तापर कीर थीर करु वास।
तापर चंचल खंजन जोर,
तापर साँपिनि झाँपल मोर।
ए सखि! रंगिनि कहल निसान,
हेरइत पुनि मोर हरल गिआन।[1]

नायिका नायक को देख अपनी सखी से कहती है—कि 'हे सखि! मैं ने एक अपूर्व रूप देखा है जिसे सुन कर तुम भी स्वप्न के समान समझोगी। दो कमलों (दो पैरों) के ऊपर चंद्रमा की माला (अर्थात् नाखूनों की पंक्ति), और उस के ऊपर तरुण तमाल (अर्थात् तरुण वयस का तमाल वृक्ष के समान श्याम रंग का शरीर) देख पड़ा। उस के ऊपर विद्युत्-रूपी लता (पीतांबर) लिपटी हुई थी। ऐसा एक मनुष्य यमुना नदी के तट की तरफ़ धीरे-धीरे चला जाता था। फिर शाखा के अग्रभाग (हाथ की अँगुलियों) में चंद्रमाओं की पंक्ति (अर्थात् नख पंक्ति) थी और उस पर अरुण की शोभा से युक्त नवपल्लव (करतल) विराजमान था। उस के बाद स्वच्छ दो बिंबफल (ओष्ठ) थे जिस के ऊपर तोता (नाक) स्थिर हो कर वास करता था, अर्थात् तोता के चोंच के समान पतली नाक थी। और फिर इसके

[1] 'विद्यापतिपदावली', सं० ५२ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।

ऊपर चंचल दो खंजन पक्षी (दो आँखें) थे जिन के ऊपर घूम कर नागिनि (अलक राशि) ने ढाँक दिया है। हे रंगिनि सखि! ये सब निशान मैंने तुम्हें कह सुनाए जिसे देखते ही मेरा ज्ञान लुप्त हो गया।'

कैसा सुंदर नायक का शरीर-वर्णन है! नायक भी पूर्ण युवा हो चला है। इस के प्रत्येक अंग सुंदर और सुडौल बने हुए हैं। इसे देख नायिका के मन में दर्शनजन्य प्रेम उत्पन्न हुआ और इसी से वह अधिक बेसुध हो गई।

उपमानोपमेय भाव का चित्रण भी कवि का कैसा सुंदर है—

कर किसलय सयन रचित गगन मंडल पेखी,
जनि सरोरुह अरुन सुतल विनु विरोध उपेखी।
नव घन जओ निर बरिसए नयन उजल तोरा,
जनि सुधाकर करें कवलित अमिअ वम चकोरा।
उतुंग पीन पयोधर ऊपर लखिअ अधरछाया,
कनकगिरि पवार उपजल वाउ मनोभव माया।
तों पुनु से नारि विरहे भामरि पलटि परल वेनी,
साँस समीरन पिवए धाउलि जनि से कारि नगीनी।[1]

कैसा सुंदर भाव है! नायिका किसलय के समान कोमल अपने करतल पर मुख रख कर स्थिर भाव से आकाश की तरफ देख रही है। नायिका का मुख मानो कमल है और करतल मानो अरुण हैं। ऐसी स्थिति में अरुणोदय होने पर भी कमल सो रहा है। स्वाभाविक बात तो यह है कि अरुणोदय होते ही कमल खिल जाता है, किंतु इस के विपरीत यहाँ देख पड़ता है।

नायिका को रोते हुए देख फिर कवि कहता है—'हे सखि! तुम्हारी आँख

---

[1] 'विद्यापतिपदावली', सं० ७८ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।

मानो नवीन मेघ की तरह पानी बरसा रहा है ; या सुधाकर की किरणों को कवलित किए हुए चकोर के समान तुम्हारी आँखें अमृत ही का उद्गिरण कर रही हैं।'

नायिका के अधरोष्ठ तथा स्तन का कैसे एक साथ कवि वर्णन करता है। नायिका का स्तन मानो कोई अति स्वच्छ ऊँची वस्तु है और उस के ऊपर बिंब सदृश लाल अधरोष्ठ का लाल प्रतिबिंब पड़ रहा है। इसे देख कवि कहता है कि यथार्थ में स्तन तो सुमेरु पर्वत है और उस के ऊपर कामदेव की माया से लाल प्रवाल मानो उत्पन्न हो गया है।

नायिका के विरहखिन्न शरीर का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि विरह के मारे नायिका का शरीर बिल्कुल काला हो गया है और वह केवल उष्ण स्वास को निकालती हुई पड़ी है। उसकी वेणी (गुंधी हुई केशराशि) मानो काली नागिनि है, जो श्वासरूपी वायु को पीने के लिए नायिका के मुख की तरफ लिपट पड़ी है।

सांसारिक व्यवहार की बातें भी कवि ने कैसे सरस और सरल शब्दों में कही हैं—

> अपना काज कओन नहि बंध,
> के न करए निअ पति अनुबंध।
> अपन अपन हित सब केओ चाह,
> से सुपुरुष जे कर निरवाह।
> साजनि ! ताक जिवन थिक सार,
> जे मन दए कर पर उपकार।
> आरति अरतल आबए पास,
> अछइते वथु नहिं करिअ उदास।

से पुनु अनतह गेले पाव ,
अपना मन पए रह पचताब ।[1]

'कौन अपने काम में नहीं लगा रहता और कौन अपने लिए चेष्टा नहीं करता ? या कौन अपने पति के प्रति दोष नहीं लगाती ? अपनी-अपनी भलाई सभी चाहते हैं, और सुपुरुष वह है जो इसे अंत तक निबाह चलते हैं। हे सखि ! जो मन दे कर दूसरों का उपकार करता है उसी का जीवन सार है अर्थात् उसी का जीवन जीवन है । जब कभी तुम्हारे पास कोई आर्त (दुखी) स्नेह से आवे तो यदि तुम्हारे पास उसे देने लायक़ वस्तु हो तो कभी उसे निराश न करना । क्योंकि अगर तुम वह वस्तु उसे न दोगी तो वह दूसरी जगह जाकर उसे माँग लेगा और तुम्हे पछताना मात्र फल मिलेगा। पर बाद को पछता कर ही क्या हो सकता है ?'

अपह्नुति अलंकार का कवि ने कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है—

कत[2] न वेदन मोहि देसि मदना,
हर नहिँ बाला मोञे जुवति जना ।
विभुतिभूषन नहिँ चानन क रेनू ,
बाघछाल नहिँ मोरा नेतक वसनू ।
नहिँ मोरा जटाभार[3] चिकुर क बेनी ,
सिराँ सुरसरि नहिँ मोरा कुसुम क स्रेनी ।
चाँदन क बिंदु मोरा नहिँ इंदु छोटा ,[4]
ललाट पावक नहिँ सिंदुर क फोटा ।

---

[1] 'विद्यापतिपदावली', सं० ८५ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)
[2] कितना दुःख कामदेव तुम मुझे नहीं देते ।
[3] 'जटाजूट' पाठान्तर है ।
[4] 'चाँद तिलक मोहि नहि इन्दु छोटा' भी पाठान्तर है ।

कंठ गरल नहिँ मृगमद चारु,
फनिपति नहिँ मोराँ मुकताहारु।
भनइ 'विद्यापति' सुन देवकामा,
एक पए दूखन नाम मोर वामा।[1]

कोई विरहिणी नायिका कहती है कि 'हे मदन! मुझे इतनी वेदना क्यो दे रहा है। मैं महादेव नही हूँ। मैं तो एक युवती स्त्री हूँ। मेरे शरीर में लगे ये विभूति (भस्म) रूपी आभूषण नही हैं, ये तो चंदन के धूल हैं। मेरे शरीर पर यह व्याघ्रचर्म नही है, यह तो नित्य के पहनने का वस्त्र है। मेरे सिर पर यह जटा का बोझ नही है, यह तो केशराशि की गुँथीं हुई बेनी है। मेरे मस्तक पर यह गंगाजी की धारा नहीं है, यह तो फूलों की क़तार हैं। यह मेरे मस्तक पर चदन का बिंदु है, न कि बालचंद्र। मेरे कपाल पर यह तीसरी आँख की अग्नि नहीं है, यह तो सिंदूर की टीका है। यह मेरे कंठ में कालकूट विष नही है, यह तो सुंदर कस्तुरी का चिन्ह है। और फिर गले में यह फणिपति नही है, यह तो मुक्ता का हार है। हे कामदेव! सुनो यदि मेरे में एक मात्र दोष है, तो यह कि मेरा नाम 'वामा' है, (और महादेव भी 'वामदेव' कहलाते हैं। इसी साद्दश्य से यदि मुझ पर तुम प्रहार करो तो तुम्हारी इच्छा)।

रस में पागल नायक को सुंदर और मधुर शब्दों में नायिका समझा रही है—

हे हरि! हे हरि! सुनिए स्रवन भरि,
अब न विलास क बेरा।

---

[1] विद्यापतिपदावली पृ० ६० (गंगानंदसिंह संस्करण)

गगन नखत छल से अवेकत भेल,
कोकिल करइछ फेरा ।
चकवा मोर सोर कए चुप भेल,
उठिए, मलिन भेल चंदा ।
नगर क धेनु डगर कए संचर,
कुमुदिनि बस मकरंदा ।
मुख केर पान सेहो रे मलिन भेल,
अवसर भल नहि मंदा ।
'विद्यापति' भन एहो न निक थिक,
जग भरि करइछ निंदा ।[1]

प्रातःकाल का कितना स्वाभाविक वर्णन है। आकाश के तारे सभी अव्यक्त हो गए। कोयल ने वारंवार आकर अपना गाना आरंभ कर दिया। चक्रवाक (रात वीत जाने पर अपनी स्त्री से मिल गया। इसलिए उस) ने कोलाहल बंद कर दिया और मयूर प्रातःकालिक अपनी वाणी को सुना कर चुप हो गया। चाँद मलिन हो गया। नगर की गाये डगर में चरने को वाहर हो गई और कुमुदिनिमें मकरंद ढँक गया। (प्रातः काल कुमुदिनी सकुन्चित हो जाती है)। मुख या अधरोष्ठ का पान का राग भी म्लान हो गया। इस लिए हे रमणा! यह यिलास का समय नही है, प्रत्युत इस समय विलास करना अनुचित है। उठो! संसार भर इस काम की निदा करता है।

प्रेम कैसे लोगों से न करना चाहिए, इस के सवंध में कवि ने कहा है—

[1] 'विद्यापतिपदावली', पृष्ठ११७ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।

कबहुँ रसिक सयँ दरसन होए जनु
दरसन होए, जनु नेहे।
नेह, बिछोह जनु काहुक उपजए,
बिछोह, धरए जनु देहे[1]।

बसंत का वर्णन करते हुए विद्यापति ने उस की उत्पत्ति से ले कर उस की राज्य-प्राप्ति तक का हाल कैसी चतुरता से और कितने मधुर शब्दों में कहा है।[2] सामाजिक रीति का भी चित्रण इसी से स्पष्ट है।

माघ माँस सिरि पंचमि गॅजाइलि,[3]
नवए माँस पंचम हरुआइ।
अतिघन पीड़ा दुख बड़ पाओल,
बनसपती भेलि धाइ हे।
सुभ खन बेरा सुकल पख हे,
दिनकर उदित समाइ।

---

[1] वही, पृष्ठ १६। देखिए इसी भाव का संस्कृत में श्लोक—
प्रेमैव माऽस्तु यदि चेत् पथिकेन नैव
तत्रापि चेद् गुणवता न समं कदापि।
तत्रापि चेद् भवतु माऽस्तु कदापि भंगो
भंगोऽपि चेद् भवतु वश्यमवश्यमायुः॥

[2] विद्यापतिपदावली, पृ० २३१ (गंगानंदसिंह-संस्करण); रागतरंगिणी।

[3] पीड़िता भई—हेमचंद्र, प्राकृत व्याकरण, ८-४-४०१। यह देशी शब्द है।

सोलहसँ पुने वत्तिस लखनें
जनम लेल रितुराइ हे।
नाचए जुवतिगन हरखित,
जनमल वाल मधाइ हे।
मधुर महारस मंगल गावए,
मानिनि मान उड़ाइ हे।
वह मलयानिल ओत उचित हे,
वन घन भउ उजिआरा।
माधवि फुल भल गजमुकता तूल,
तें देल वंदन वारा।
पीअरि पाँड़रि महुअरि गावए,
काहरकार धुथूरा।
नागेसर कलि संखधुनि पूर,
तगर ताल समतूला।
मधु लए मधुकरेँ बालक दए हलु,
कमल पखुरिया झुलाइ।
पौंअनाल तोरि करि सुत बाँधल,
केसु कइलि बधनाइ।
नव नव पल्लव सेज ओछाओल,
सिर दहु कदमेरि माला।
बैसलि भमरी हर उदगारए,
चक्का चंद निहारा।

कनए केआस्तुति पत्र लिखिए हलु,
रासि नछत्र कए लोला।
कोकिल गणित गुणित भल जानए,
रितु वसंत नाम थोला।
वाल वसंत तरुन भए धाओल,
बेढ़ए सकल संसारा।
दखिन पवन घन आँग उगारए,
कुवलय कुसुम परागे।
सुललित हार मँजरि घन कज्जल,
आखितओ अञ्जन लागे।
नव वसंत रितु अनुसर जौवति,
'विद्यापति' कवि गावए।
राजा 'सिवसिंह' रूपनराएन,
सकल कला मन भावए।

माघ मास श्रीपंचमी तिथि को (प्रकृति) पूर्णगर्भा हुई, नौ महीना पाँच दिन होने पर (प्रकृति) प्रसव के वाद प्रसन्न हुई। जब प्रकृति को बहुत पीडा हुई तब उस समय वनस्पति धाय हो कर वहाँ उपस्थित हो गई। शुक्लपक्ष में, शुभ मुहूर्त में, सूर्य के निकलने पर सोलहों अंगों से पूर्ण और बत्तीसों लक्षणों से युक्त ऋतुराज वसंत का जन्म हुआ। इससे हर्षित युवती स्त्रियाँ नाचने लगीं और मधुर तथा महारस-युक्त मँगलगान गाने लगी। इसी से मानिनी का मान भी उड़ गया (भंग हो गया)। समयोचित सर्वत्र व्यापी

मलयानिल बहने लगा। सघन वन में प्रकाश हो गया। माधवी फूल गज-मुक्ता के समान हो गया और इसी को लेकर बंदनवार बना दिया।

मधुकरी पीले पाटल पुष्प के ऊपर चढ कर गान करने लगी, धुथूरा तूर्य-नाद करने लगी। नागेश्वर पुष्प की कली ने शंख बजाया और तगड़ के फूल ताल का समान हो गया। मधुकर ने मधु ला कर बालक को पहले दिया (पहले बालक को मधु चटाया जाता है यह मिथिला का व्यवहार है) और तालाब से कमल की पँखुरी ला कर बालक को दिया। पद्मनाल को तोड़ कर उस से सूत निकाल करधनी पहनाई गई। केसर का फूल बघनखा बना (यह बालक की रक्षा के लिए दिया जाता है)। नवीन-नवीन पल्लव तो बिछौना हुए और सिरहाने कदंब की माला रक्खी गई। भ्रमरी वहाँ बैठ कर हर (अर्थात् हर-नन जटा इत्यादि[1]) गाने लगी और बालक चंद्रमा के गोले को देखने लगा। राशि नक्षत्र को स्थिर कर सुवर्णवर्ण केसर पुष्प पर जन्मपत्र लिखा गया और कोयल (जो गणितशास्त्र अच्छी तरह जानती है) ने बालक का प्रिय नाम वसंत रक्खा।

यही वसंत तरुण हो गया और दौड़ कर इस ने समस्त संसार को घेर लिया। दक्षिण पवन ने कमल के फूलों की धूल (बेसन) लेकर वसंत के शरीर में उबटन लगाया। मंजरी सुंदर हार बन कर गले में आ गई और नवीन मेघ ने उस की आँखों में काजल लगाया।

धीरे-धीरे वसंत ने ऋतुओं में राजा की पदवी पाई। राजा बन कर वह अपने नगर में प्रवेश करता है। सभी उस का सम्मान करते हैं। इसी बात को कवि ने नीचे लिखी कविता में कहा है—

---

[1] यह एक प्रकार का गीत होता है जिसे मिथिला की स्त्रियाँ गाकर नवजात शिशु को सुलाती हैं।

आएल रितुपति राज वसंत,
धाओल अलिकुल माधवि पंथ।
दिनकर किरन भेल पौगंड[1];
केसर कुसुम धएल हेमदंड।
नृप आसन पाटलि-पात[2],
कांचन कुसुम छत्र धरु माथ।
मौलि रसाल मुकुल भेल ताय[3],
समुखहि कोकिल पंचम गाय।
सिखिकुल[4] नाचत अलिकुल यंत्र[5],
आन द्विजकुल[6] पढ़ु आसिषमंत्र।
चंद्रातप[7] उड़े कुसुम पराग,
मलय पवन सह भेल अनुराग।
कुंदवली तरु धएल निसान[8],
पाटल तूण[9] असोकदल वान[10]।
किंसुक लवंगलता एक संग,
हेरि सिसिर रितु आगे देल भंग।

---

[1] प्रौढ़ावस्था। [2] पाटलीपुष्प का पत्र।
[3] उस का। [4] मयूर।
[5] वाद्ययंत्र। [6] पक्षी लोग।
[7] चँदोवा। [8] पताका।
[9] तूणीर। [10] बाण।

सैन्य साजल मधुमाखिक कूल,
सिसिरक सबहु कएल निरमूल ।
उधारल[1] सरसिज पाओल प्रान,
निज नवदले करु आसन दान ।
नव वृन्दावन राजविहार,
'विद्यापति' कह समय क सार ।[2]

इसी वसंत की रात में कृष्ण की रास-लीला का वर्णन भी बड़ी रोचकता के साथ कवि ने किया है—

रितुपति-राति रसिक रसराज,
रसमय रास रभसरस माझ ।
रसमति रमनिरतन धनि राहि,[3]
रास रसिक सह रस अवगाहि ।

---

[1] उद्धार किया ।

[2] 'विद्यापतिपदावली', पृ० २३४ (गंगानंदसिंह-संस्करण)

[3] राही—राधा । मिथिला के ग्राम्यगीतों में एक दूसरी 'राही' है जो विष्णु की बड़ी प्रिय एक दासी थी । पूर्व जन्म में यह एक अप्सरा थी । किसी कारणवश इंद्र ने इसे शाप दिया था जिस से यह मर्त्यलोक में आ कर विष्णु भगवान की निरंतर सेवा करती थी । लक्ष्मी इस से बहुत डाह रखती थीं किंतु विष्णु की प्रियपात्री होने के कारण इसे कुछ नहीं कर सकती थीं । राही का जलशयन आदि बहुत ही प्रसिद्ध है । राही का भी नाम विष्णु के नाम के साथ कहा जाता है, जैसे राही-दामोदर ।

रंगिनिगन सब रंगहि नटइ,
रनरनि कंकन किंकिनि रटइ।
रहि रहि राग रचय रसवंत,
रतिरत रागिनि रमन वसंत।
रहनि रवाव महतीक[1] पिनास,[2]
राधारमन करु मुरलि विलास।
रसमय 'विद्यापति' कवि भान,
'रूपनराएन' भूपति जान।[3]

भाव के साथ साथ कितना अनुप्रास इस में भरा है!

विरह से खिन्न नायिका घोर तपस्या करने बैठी है। इस भाव को लेकर कवि ने कैसा सुंदर पद कहा है!

लोचन नीर तटिनि[4] निरमाने,
करए कलामुखि तथिहि[5] सनाने।
सरस मृनाल करइ जयमाली,
अहनिस जप हरि नाम तोहारी।
वृन्दावन कान्हु धनि तप करइ,
हृदयवेदि मदनानल वरइ।
जिव कर समिध[6] समर[7] कर आगी,
करति होम वध होएवह भागी।

---

[1] नारद की वीणा। [2] एक वाद्यविशेष।
[3] 'विद्यापति पदावली', पृ० २४४ (गंगानंदसिंह-संस्करण)
[4] नदी। [5] उसी में।
[6] अपने प्राणों को हवन की लकड़ी बनाई। [7] स्मर=कामदेव।

चिकुर बरहि[1] रे समरि[2] कर लेअइ, फल उपहार पओधर देअइ।
भनइ 'विद्यापति' सुनह मुरारी, तुअ पथ हेरइत अछ वरनारी।[3]

इसी से विद्यापति का नैष्ठिक ब्राह्मण होना भी सिद्ध होता है। अन्यथा इन सब बातों को इतने सूक्ष्म तौर पर कैसे जानते !

कितना सुन्दर उत्प्रेक्षा कवि ने किया है—

सरस वसन्त समय भल[4] पाओल
दछिन-पवन[5] वहु धीरे।
सपनहुँ रूप वचन एक भाखिअ
मुँखसओं दुर करु चीरे[6]।
तोहर वदन सन चान होअथि नहि
जइओ जतन विहि देला।
एक वेरि काटि वनाओल सम कए
तइओ तुलित नहि भेला[7]।
लोचन तूल[8] कमल नहि भए सक

[1] केशराशि ही तो (बर्हि=) कुश है। [2] सम्हल कर।
[3] 'विद्यापतिपदावली', पृ० २७२ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।
[4]सुन्दर। [5]मलयानिल धीरे धीरे वह रहा था (और मैं निद्रित-- होगई)। [6] स्वप्न में मैंने एक मूर्ति को बोलते हुए सुना कि (हे नायिका) मुख पर से वस्त्र हटा लेना (मैं देखूंगा)। [7] इस पंक्ति के पाठ में मुझे कुछ संशय है। अर्थ यह मालूम होता है कि यद्यपि ब्रह्मा ने अनेक यत्न किए, कई बार काट कर सुन्दर बनाने की चेष्टा की फिर भी चन्द्रमा नायिका के मुख के समान सुन्दर नहीं हो सके। [8] समान।

से जग के नहि जाने।
से पुनि जाए नुकाएल जल मए
पंकज निज अपमाने[1]।
भनइ 'विद्यापति' सुनु वर जौवति[2]
ई सभ लछमी समाने।
राजा 'शिवसिंह' रूपनरायन।
'लखिमा' देइ-पति भाने॥

राधा की विरह-दशा का वर्णन करते हुए एक सखी माधव से कहती है—

किसलय-सयन आगिकए मानए
सखिगन न पार बुझाय[3]।
मनिमय मुकुर देखि पुनि निज मुख
चान भरम मुरछाय[4]।
माधव कहल हम तोहर दोहाइ।
जइसन राहि आजु हम देखल
तइसन के पतिआइ।
विगलित केस सास वह खरतर[5]

---

[1] वह 'पंकज' कहला कर अपना अपमान सहन कर जल के अन्दर जाकर छिप गया। [2] युवती।

[3] नायिका कोमल और नवीन कमल के पत्तों के ऊपर सोना आग के ऊपर सोने के समान मानती है और सखियाँ उस आग को बुझा नहीं सकतीं। [4] मणिमय शीशे में अपना मुख देख कर उसे चन्द्रमा समझ कर पुनः मूर्च्छित हो जाती है। [5] श्वास बहुत गरम और खर चलता है।

रहय न नीवि-निबन्ध ।
कम्बु कँधर धरए न पारय
टूटय पांजर बन्ध ।
नव सरोजदल सजल सुताओल
अधिक जरे जनि आगि[1] ।
की घर बाहर पड्य निरन्तर
अहनिसि देखिय जागि ।[2]
भनहि 'विद्यापति' सुनह रसिकमनि
तोरित मिलह धनि पास ।
सकल सखीगन सेवत वियोगिनि
दसमि दसा[3] परकास ॥

अलंकार से युक्त कितना भावपूर्ण विरह वर्णन है—
माधव ! अव न जिवति तुअ राही ।[4]
जे सव जकर लेल छलि सुन्दरि से सव सोपल[5] ताही ।
मुख मरीचि शारद हिमकरकएँ हरिणहि लोचन लीला
केस-पास चमरी कएँ सोपल पाय मनोभव पीडा[6] ।

[1] कम्बु के समान पतला गला । [2] नवीन कमल के पत्तों पर जल छिड़क कर सखिओं ने नायिका को उस पर सुलाया किंतु नायिका को उससे अधिक प्रज्ज्वलित आग ही का अनुभव हुआ । [3] निरन्तर घर और वाहर किया करती है तथा दिन-रात जाग ही कर (तुम्हारी वाट) जोहती रहती है । [4] मरण ।
[5] राधा । [6] लौटा कर दे दिया । [7] विरह से पीडिता नायिका ने मुख की शोभा शरदऋतु के चन्द्रमा को, अपने आखों की लीला

दाँत-काँति मोतिक माला कएँ मधुरि अधरदुति देल
देहदीप्ति दामिनि कौं देलनि काजर सन सखि भेल[१]।
भ्रुकुटीभंग अनङ्गबान कएँ कोकिलकएँ देल बानी
केवल देह नेह अछि रखने एतबा अएलहुँ जानी।
हरि-हरि कहि पुनि उठय धरनि धरि अहनिसि खेपय जागी
तोहर सिनेह जीवबन्धन थिक अछि धनि एतबहि लागी[२]।
भनहि 'विद्यापति' सुनु वर जौवति मन जनु झाँखह[3] आने
राज 'शिवै सिंह' रूपनरायन 'लखिमा' देवि रमाने[४]॥

मानिनी के पश्चात्ताप को देखिए—

कि कहब आगे सखि मोर अगेयाने[५]
सगर रइनि गमाओल माने[६]।
जखन मोर मन परसन[७] भेल
दारुन अरुन तखने उगि गेल[८]।

हरिण को, केशपाश चमरी गाय को दे दिया। [१] दाँत की शोभा मोती के माला को, ओष्ठ की द्युति बिम्ब को, शरीर की कान्ति बिजुली को नायिका ने सौंपा और स्वयं विरह के कारण काजल के समान काली हो गई है।

[२] इसी भाव को कालिदास ने 'मेघदूत' में कहा है—

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशोऽह्यङ्गनानाम्
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥

[3] खेद करना। [४] जो भाव इस पद में है वह संस्कृत के अनेक कविओं ने भिन्न-भिन्न रूप में कहा है।

[५] अज्ञान। [६] मान में। [७] प्रसन्न। [८] उसी क्षण अरुणोदय होगया

गुरुजन जागल कि करब केलि
तनु झपइत हम आकुलि भेलि[1]।
अधिक चतुरपने भेलहुँ अगेयानी
लाभक लोभे मूलहु भेल हानी[2]।
भनइ 'विद्यापति' निअ मति दोषे
अवसर काल उचित नहि रोषे[3]॥

विरह से खिन्न नायिका अपने दुःखानुभव को प्रकाश करती है —

जनम होअए जनि, जओं पुनि होइ
जुवती भए जनमए जनु कोइ।
होइह जुवति, जनु हो रसमन्ति
रसओ बुझए, जनु हो कुलमन्ति।
ई वर (धन) मागओं विहि एकपए तोहि
थिरता दिहह अवसानहु मोहि।
मिलि सामि नागर रसधार
परवस जनु होअ हमर पियार।

और संभोग शृंगार का समय न रहा। इसी लिए कवि ने 'अरुण' को 'दारुण' कहा है। [1]अपने शरीर को छिपाने में ही नायिका व्याकुल हो गई। [2]अधिक चतुरता करने का फल (उलटा ही हुआ) और मैं अज्ञानी रह गई। लाभ के स्थान में मेरा मूलधन भी नष्ट हो गया। [3]कवि नायिका को शिक्षा देते हैं कि उचित अवसर पर रोष (मान) करना अनुचित है और नायिका को अपने दोष ही से इस अवस्था का अनुभव करना पड़ा है।

तोहह परबस बुझिअ बिचारि
पाए बिचार हार कओन नारि ।
भनहि 'विद्यापति' अछ परकार
दन्द समुद होएत जीव दए पार[1] ॥

---

[1] नायिका कहती है—सब से प्रथम कल्प तो यही है कि (संसार में) जन्म ही न हो (क्योंकि जन्म ही सभी दुःखों का कारण है) कदाचित् जन्म हो तो फिर युवती होकर किसी का जन्म न हो। कदाचित् युवती ही होकर जन्म ले तो रस को आस्वादन करने वाली न हो। रस के स्वरूप को जानने वाले ही 'रस' को न पाकर उसके विरह में पागल हो जाते हैं और परिणाम बहुत ही भयंकर होता है। कदाचित् युवती होकर रस को भी जानने वाली हुई तो फिर भी वह कुलवधू न हो। क्योंकि कुलवधू होने से लज्जा के पालन में व्यग्र रहती है। रस के अनुभव से सर्वदा वञ्चित रह कर अपने अन्तःकरण ही को दुःखाग्नि में जलाती रहेगी। और लज्जा के कारण अपने मुख से एक शब्द भी नहीं निकाल सकेगी। अतएव नायिका विधि से यही एक मात्र वर मांगती है कि अन्त में भी मैं स्थिर रहूँ जिससे मुझे नागर (अर्थात् गमार नहीं) और रसाधार स्वामी अगले जन्म में मिले एवं वह परवश न हो।

इसका अभिप्राय यह है कि मरने के समय जिस भाव को रखकर कोई मरता है उसी भाव की पूर्ति दूसरे जन्म में होती है (देखिए-यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः—गीता-८-६)। इसका फल यह होगा कि अग्रिम

नहाए उठल तीर राइ कमलमुखि
समुखे हेरल वर कान।
गुरुजन संगे लाजे धनि नत-मुखि
कइसने हेरव नयान।
सखि हे अपरुव चातुरि गोरि
सब जन तेजि अगुसरि सञ्चरि
आड़ वदन तँहि फेरि।
तँहि पुनि मोतिहार तोडि फेँकल
कहइत हार टुटि गेल।
सब जन एक एक चुनि सञ्चरु
स्याम दरस धनि लेल।
नयन चकोर कान्हमुख ससिवर
कएल अमिय रस पान।
दुहु दुहु दरसन रसहु पसारल
कवि 'विद्यापति' भान॥[1]

जन्म में नायिका को अपनी इच्छा के अनुकूल नायक मिलेंगे। कदाचित् वह परवस ही हो जांय तो भी उनकी विवेकवुद्धि नष्ट न होगी जिससे कि वह यह समझ सकें कि कौन स्त्री उनके गले का हार हो सकती है और कौन नहीं। कवि कहते हैं कि इस द्वन्द्व-समुद्र से पार होने में प्राण देने ही से मनुष्य सफल होते हैं।

[1]राधा की चतुरता के दृष्टान्त को दिखाते हुए कवि कहते हैं कि स्नान कर कमलमुखी राधा ज्यों ही नदी के किनारे पर आई

नायिका के नेत्र चोरी में पकड़ गए फिर भी नायिका सम्भल गई और अपने प्रियतम को प्रसन्न कर आनन्दरसास्वादन मे मग्न हो गई—

अवनत आनन कए हम रहलिहुँ
वारल लोचन चोर,
पिया मुख रुचि पिबए धाओल
जनि से चाँद चकोर।
ततहु सओ हठें हँटि मोञे आनल
धएल चरनन राखि,
मधुप मातल उडए न पारए
तइअओ पसारए पाँखि।
माधव बोलल मधुर वानी
से सुनि मुँदु मोञे कान,

त्यों ही उसने कृष्ण को अपने सामने देखा। गुरुजनों के संग संग रहने के कारण लज्जा से मुख को नीचा कर सोचने लगी कि किस प्रकार कृष्ण के नेत्र को देख पाऊँ। नायिका बहुत चतुर है। सभी को पीछे छोड़ कर वह आगे बढ़ी और छिपकर कृष्ण की तरफ फिर से देखी। वहाँ जाकर अपने मुक्ताहार को राधा ने तोड़कर फेँक दिया और 'मेरा हार टूट गया' यह जोर से कह उठी। सभी लोग एक एक कर मोती को चुनने लगे। इस बीच में राधा ने अच्छी तरह कृष्ण के दर्शन किए और कृष्ण के चन्द्रमुख के अमृत को अपने चकोर रूपी आँखों से पान किया (अर्थात् देखा)। विद्यापति कहते हैं कि दोनों के परस्पर दर्शन से दोनों के चित्त में रसका प्रसार हुआ।

ताहि अबसर ठाम बाम भेल
धरि धनु पँचवान।
तनु पसेव पसाहनि भासलि
पुलक तइसन जागु,
चुनि चुनि भए काँचुअ फाटलि
बाहु वलआ भाँगु।
भन 'विद्यापति' कम्पित कर हो
बोलल बोल न जाय,
राजा 'सिवसिंध' रूपनरायन
साम सुन्दर काय॥[1]

---

[1] नायिका कहती है कि लज्जा से हम ने अपनी दृष्टि को नीचे कर लिया और उस आँख रूपी चोर को फिर कहीं जाने से रोका। किन्तु वह चकोर की तरह प्रियतम के मुखचन्द्र की शोभा को पान करने के लिए फिर भगगया। फिर हमने वहाँ से जबर्दस्ती उसे हटा कर अपने पैरों पर रख दिया। अर्थात् पैरों की तरफ में देखने लगी (चोर को पैर पर पडने ही से क्षमा मिलती है यह समझ कर नायिका ने लोचन-चोर को पकडे जाने पर उसको अपने चरणों पर गिराया)। किन्तु जिस प्रकार मधुपान से उन्मत्त भ्रमर उडने में असमर्थ होता हुआ भी स्वभाव वश उडने के लिए अपने पंख को फैलाता है उसी प्रकार मेरा नेत्र दूसरे तरफ भागने के लिए पुन: (चेष्टा करने लगा। उसी अवसर में)माधव की मधुर वाणी सुनाई पडी जिसे सुन कर नायिका के कान मूँद (भर)

निसि निसिअर भम भीम भुअगस
जलधर बिजुरि उजोर।
तरुन तिमिर निसि तइओ चललि जासि
वड सखि साहस तोर।
सुन्दर कओन पुरुप धन जे तोर हरल मन
जसु लोभे चलु अभिसार।
आँतर दुतर नदि से कइसे जएबह तरि
आरति न करिअ झाँप।
तोरा अछ पँचसर तें तोहि नहि डर
मोर हृदय बड़ काँप।

गए। नायिका कहती है कि उसी अवसर पर कामदेव धनुष लेकर मेरा शत्रु होकर वहाँ खडा होगया। जिससे मेरे शरीर से पसीना निकल पडा और मेरे ललाट का शृंगार बह चला, शरीर में ऐसा रोमांच हुआ कि मेरा कञ्चुक टुकडा टुकडा होकर फट गया और बाँह का कंकण टूट गया। विद्यापति कहते हैं कि नायिका के हाथ कँपने लगे और मुँह से वचन नहीं निकले।

इसे नीचे लिखे हुए 'अमरुशतक' के पद से तुलना कीजिए और देखिए कि विद्यापति शृंगार में कितने दूर तक पहुँचे हैं—

तद्वक्त्राभिमुखं मुखं विनमितं दृष्टिः कृता पादयोः
तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धे मया।
पाणिभ्यां च तिरस्कृतः सपुलकः स्वेदोद्गमो गण्डयोः
सख्यः किं करवाणि यान्ति शतधा मत्कञ्चुके सन्धयः॥

भनहि 'विद्यापति' अरे वर जउवति
साहस कहहि न जाए।
अछुए जुवति गति 'कमला' देइ- पति
मन बस 'अरजुन' राए[1] ॥

गजमोती के हार पहनी हुई नायिका को देख कवि ने कैसी उत्तम उत्प्रेक्षा की है—

काम कंबु भरि कनअ-संभु परि
ढारत सुर-धुनि-धारा[2]।

मानो कामदेव रूपी पुजारी नायिका के कण्ठ रूपी शंख में (गज मोतिओं की धारा के समान) गंगा की धारा को भर कर स्तनरूपी सोने के बने हुए शिव के ऊपर (गंगा जल) चढा रहा हो।

[1] कोई एक सखी दूसरे सखी से कहती है कि रात को निशाचर और भयंकर सर्प घूमते हैं। मेघ में विजुली चमक रही है। रात निविड अन्धकार से आच्छन्न है फिरभी हे सखि! तुम्हारा साहस बहुत वडा है कि तुम अपने प्रिय-मिलन को चली जाती हो। वह धन्य और सुन्दरपुरुष कौन है जिसने तुम्हारे मन को हरलिया है और जिसके लोभ से तुम अभिसार कर रही हो? बीच में दुस्तर नदियाँ हैं। उन्हें किस प्रकार तुम पार कर जाओगी? प्रेम के दुःख को छिपाओ नहीं। तुम्हारे साथ पाँच शरवाले (अर्थात् कामदेव) हैं, इसलिए तुम्हें तो भय नहीं मालूम होता है किन्तु मेरे हृदय में तो बहुत ही भय मालूम होता है। विद्यापति कहते हैं कि साहस का वर्णन किया नहीं जा सकता है। अर्थात् हे सखि! तुम जो साहस कर रही हो वह अकथनीय है।

[2] 'विद्यापतिपदावली' पृ० २६ (गंगानंद्रसिंह संस्करण)

नित्य के धार्मिक आचरण से मिश्रित क्या ही अतुलनीय उत्प्रेक्षा कवि ने ढूंढ़ निकाला।

इसी प्रकार के भाव को कवि ने फिर भी दुहराया है—

आओर पेखल कुच-जुग माँझे,
लोलित मोतिम हारे।
कनक महेश कामहु पूजल,
जनि सुरनदि धारे॥

सद्यःस्नाता नायिका के बिखरे हुए केशराशि से टपकते हुए जलप्रवाह को देख कर कैसा सुन्दर चित्रण कवि ने किया है—

चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा॥

चन्द्रमा के प्रकाश से भयभीत अंधकार ही (केश से टपकती हुई) जलधारा के स्वरूप में आँसू बहा रहा है।

कवि ने इसी बात को कई एक प्रकार से कहा है। जैसे—

चिकुर गरए जलधारा,
मेघ बरस जनु मोतिम हारा॥[1]

स्नानोत्तर केश से पानी गिर रहा है मानो केशरूपी काले-काले बादल मोतिओ का हार जलबिंदु के स्वरूप मे बरसा रहा है। फिर भी देखिए—

केस निंगारइत बह जलधारा,
चमर गरए जनि मोतिम हारा।[2]

[1] 'विद्यापतिपदावली,' पृ० ३४ (गं० स्नि० संस्करण)।

[2] 'वही', पृ० ३५।

स्नान के बाद जब नायिका अपने केशराशि को निचोड़ती है तब उस से पानी की धारा बहती है मानो चॅवर के सदृश केश से मोतिओं का हार वह रहा हो।

नायक के. प्रथम दर्शनजन्य नायिका के भाव को कितने मधुर शब्दों में कवि ने प्रकट किया है—

कानु हेरबं छल मन बड़ साध,
कानु हेरइत भेल अत परमाद।
तब धरि अबुधि मुगुधि हम नारि,
कि कहि कि सुनि किछु बुझिए न पारि।
साओन घन सम झर दू नआन,
अविरत धड़-धड़ करए परान।
की लागि सजनी दरसन भेल,
रभसे अपन जिउ पर-हथ देल[१]॥

नायिका कहती है कि कृष्ण को देखने की मन में बड़ी इच्छा थी किन्तु उन्हे देखते ही इतनी असावधानी मुझ में आगई कि तब से मैं मुग्ध होगई हूॅ। मेरा ज्ञान लुप्त हो गया है। क्या कहूॅ, क्या सुनूं, कुछ भी मैं नहीं कह सकती। केवल सावन के काले बादल के समान मेरे दोनो नेत्र पानी बरसा रहे है और मेरा प्राण अनवरत धड़क रहा है। हे सखि! क्यों मुझे उनका दर्शन हुआ। खेलते ही खेलते मैंने अपना प्राण दूसरे के हाथ मे समर्पण कर दिया।

मनुष्य के हृदय के भावो को भी यथार्थ वर्णन करने में कवि बड़े पटु

---

[१] 'वही' पृ० ५८।

हैं। ये भाव कवि की कपोलकल्पना ही नहीं है किन्तु लौकिक अनुभव भी ऐसा ही है। देखिए—

जइ खने निअर गमन होअ मोर,
तइ खने कान्हु कुशल पुछ तोर।
मन दए बुझल तोहर अनुराग,
पुन फले गुनमति पिआ मन जाग।
पुनु पुछ पुनु पुछ मोर मुख हेरि,
कहिलिओ कहिनी कहवि कत बेरि।
आन बेरि अवसर चाल आन,
अपने रभस कर कहिनी कान।
लुबुधल भमरा कि देव उपाम,
बाधल हरिण न छाड़ए ठाम[1] ॥

किस चतुरता से नायिका के मन के भाव को कवि ने नीचे दी हुई कविता में ध्वनित किया है यह अवर्णनीय है—

कर धरु करु मोंहें पारे,
देब हमें अपरुब हारे, कन्हैया।
सखि सब तेजि चलि गेली,
न जानू कोन पथे भेली, कन्हैया।
हम न जाएब तुअ पासे,
जाएब अओघट घाटे, कन्हैया।

---

[1] 'वही' सं० ८२ (न० गुप्त-सं०)।

'विद्यापति' इहो भाने,
गूजरि भजु भगवाने, कन्हैया ॥[1]

इस पद का नाना प्रकार से विस्ताररूप में टीकाकारो ने अर्थ किया है[2]। बात तो इतना ही है कि नायिका कहती है कि मुझे नदी के उस पार कर दो मैं तुम्हे पारितोषिक दूगी। मेरी सखियाँ न मालूम किधर को चली गई, मुझे छोड़दीं लेकिन मैं तुम्हारे पास न आऊँगी। और साथ ही साथ आन्तरिक भाव को भी सूचित करती है कि मैं तो ऐसे निरन्तर स्थान में चलूंगी जहाँ तुम्हे छोड़ और दूसरा कोई नही होगा। इस लिए कृपा कर मेरा हाथ धरो और पार कर दो।

यह एक ऐसा पद है जिसकी रचना करने में विद्यापति के मन में राधा और कृष्ण का अलौकिक स्वरूप अवश्य रहा होगा। यह केवल लौकिक प्रेम का ही व्यञ्जक कविता नहीं है, किन्तु कुछ विशेष गूढ़ता भी इस मे है। ऐसे पद नायक और नायिका को लेकर बहुत अल्प कवि ने बनाया है।

यही अलौकिक भाव को लेकर कवि ने और भी एक पद कहा है—

न बूझसि अबूझ गोआरी[3]
भजिरहु देव मुरारी,
नहि गारी लो[4] ॥

---

[1]'विद्यापतिपदावली' पृ० ८३ (गंगानंदसिंहसंस्करण)। [2]'विद्यापति-पदावली', सं० १२४ (नगेन्द्रनाथगुप्तसंस्करण)। [3]गोपत्नी बहुत मूर्ख होती हैं इसलिए 'गोआरी' शब्द का प्रयोग यहाँ किया गया है। [4] 'विद्यापतिपदावली', पृ० ८६ (गंगानंदसिंहसंस्करण)।

प्रयाग-तीर्थ में त्रिवेणी के संगम पर चन्द्रग्रहण का वर्णन करने के बहाने शृंगार रस की पुष्टि करते हुए कवि कहते हैं कि हे माधव ! उठ जाओ, सोना अनुचित है। देखो—

गहन लाग देखु पुनिम क चंद।
हार रोमावलि जमुना गंग,
त्रिवलि त्रिवेनी विप्र अनंग।
सिंदुर तिलक तरनि सम भास,
धूसर मुख-ससि नहिं परगास।
एहन समय पूजह पँचवान,
होअओ उगरास दएह रतिदान।
पिक मधुकर पुर कहइत बोल,
अलप ओ अवसर दान अतोल[१]॥

पूर्णिमा के चन्द्र को देखो, ग्रहण लग गया। यहाँ त्रिवेणी संगम के समान (हार = गङ्गा ; रोमावलि = यमुना , त्रिवली = सरस्वती) तीर्थ है। अनंग के सदृश पवित्र ब्राह्मण उपस्थित हैं। झट कामदेव का पूजन कर ब्राह्मण को रतिदान देना आवश्यक है। अवसर थोड़ा है। उगरास होने ही वाला है। इस लिए शीघ्र दान करो। इस से बहुत बड़ा फल मिलेगा।

नायिका ने अपने कटाक्ष से नायक को बाजार में खरीद कर लिया है। इसलिए बाजार में खरीद करने से नियमानुसार एक 'क्रयलेख' लिखना आवश्यक है। इसे किस चातुर्य्य के साथ कवि लिख रहे हैं:—

---

[१] 'विद्यापतिपदावली', पृ० १३५ (गंगानन्दसिंहसंस्करण)।

बड़ कौसलि तुअ राधे,
किनल कन्हाइ लोचन-आधे।
ऋतुपति हटवए नहि परमादी,
मनमथ मधथ उचित मुलवादी।
द्विज पिक लेखक मसि मकरन्दा,
काँप भमरपद साखी चन्दा।
बहि रतिरंग लिखापन माने,
श्रीसिवसिंह, 'सरसकवि' भाने[1]।

हे राधे! तुम बड़ी चतुर हो। आध ही कटाक्ष में तुमने कृष्ण को खरीद लिया। देखो 'बसन्त' बहुत सावधान हाटवाला है। वह बिना खरीद लिखाए जाने नहीं देगा। और मध्यस्थ कामदेव हैं। जितने में तुमने खरीदा, वह ठीक ठीक कहदेंगे। द्विज कोयल तो इसके लिखने वाले हैं। मकरन्द ही रोशनाई है। भ्रमर के पैर ही कलम है। और चन्द्रमा इसका साक्षी है। वही तो रतिरंग है। तथा इस लेख का लिखापन (पारिश्रमिक) मान है। इस प्रकार ऐसा क्रय यह है जिस मे कोई कभी सन्देह नही करेगा कि उचित रीति से खरीद हुआ है या नही। इस लिए यह तुम्हारा खरीद बहुत ही सुन्दर है।

इस पद का संस्कृत भाषा मे भी कवि विद्यापति ने एक समय स्वयं अनुवाद किया था जोकि पदावली के तालपत्र वाले हस्तलिखित पुस्तक में लिखा हुआ है। उसे भी यहाँ मैं दे देता हूँ :—

रत्नाकरसुता भार्या यस्य कृष्णस्य, राधिके।
लोचनार्धेन स क्रीतस्त्वया ते कौशलम्महत्॥

[1] 'विद्यापतिपदावली,' पृ० १४० (गंगानन्दसिंहसंस्करण)।

हट्टाधिपो वसन्तः सोऽप्रमादी विचक्षणः ।
योग्यमूल्यार्थवादी च मध्यस्थो मन्मथोऽभवत् ॥
भ्रमरस्य पदं कर्पूरो लेखकः कोकिलो द्विजः ।
अभूत् कृष्णक्रये राधे शशी पात्रं मसी मधु ॥
वहिर्गतिरतिक्रीडा मानो वेदनलेखकः ।
कृष्णस्य शिवसिंहेन वाणी विद्यापतेः कवेः ॥

और भी एक 'रतिलेख' पढ़ने के योग्य है:—

आनह केतकि केर पात,
मृगमद मसि नख काप[1] ।
सबहि लिखवि मोरि नाम,
विनति देवि सब ठाम ।
सहि[2] हे गइए जनावह नाथ,
कर लिखन दए हाथ ॥[3]

क्या रतिलेख के लिए कालिदास से कम या असमीचीन सामग्री विद्यापति को मिला है ! इन पदों से विद्यापति समकालीन क्रयविक्रय का व्यवहार का भी परिचय आनुषङ्गिक हो जाता है ।

ऐसे ऐसे सैकड़ों कविताएँ विद्यापति ने बनाई किन्तु सभी में केवल शृंगार रस भरा हुआ है। केवल एक ही रस के इतने पद होने के कारण भावो में भी पुनरुक्ति अधिकतर पाई जाती है । इस का भी कारण है । इन सब पदों को कविने एक समय बैठ कर या लगातार से एक के बाद

---

[1] कलम [2] सखि । [3]हाथ से मेरा लेख उनके हाथ में देना ।
—'विद्यापतिपदावली,' सं० ६८७ (नगेन्द्रनाथगुप्तसंस्करण)

दूसरा तो बनाया ही नहो, जिससे उन्हें आगे पीछे का कुछ अनुसन्धान रहता। जब मन में जो भाव आया तब उमी भाव को मन में लेकर पद बनाया। इस कारण एक ही भाव बारबार देख पड़ता है।'

यही बात स्वर्गीय महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्री ने भी लिखा है—

"आमादेर देशेर कविरा आदिरसेर गान लिखिते गेलेइ राधाकृष्णेर दोहाइ दितेन। निजेर मनेर भाव छल करिया राधाकृष्णेर घाड़े छापाइया दितेन। .....नगेन्द्रबाबू एकटू अन्याय करिया छेन, तिनि विद्यापतिर गानेर संग्रहगुलि येमन पाइयाछिलेन, तेमनइ छापाइतेन, ताहा हइले बोध हय अनेकटा भाल हइत। ताहा ना करिया तिनि सब आदिरसेर कविता कीर्त्तनेर छाँचे ढालिया छापाइया छेन। ......किन्तु एइ ये कीर्त्तनेर छाँच, एत' विद्यापतिर समय हय नाइ। उज्ज्वलनीलमणि, भक्तिरसामृत, सिन्धु प्रभृति रसशास्त्रेर वइ खूब प्रचलित हइया गेलेइ वैष्णव-समाजे इदानीन्तन कीर्त्तनेर सृष्टि हय। विद्यापतिर समय सेटा छिल कि? विद्यापतिर अन्ततः दुइशत वत्सर परे रसशास्त्रेर बहुलप्रचार हय। सुतराँ तिनि कीर्त्तनेरइ गान लिखियाछेन एवं रसशास्त्रेर छाँचे ताहा ढालियाछेन ए कथा आमरा विश्वास करिते पारिना। तिनि छिलेन राजकवि, राजपारिषद। राजारा वा राजसभासदेरा येमन फरमाइस करितेन, तिनि तेमनइ गान लिखितेन, एव ताहादेर मनोरञ्जन करिवार जन्य ताँहादेर एवं ताँहादेर परिवारेर नाम सेइ सगे जूड़िया दितेन। राजसभाय खूब एकटा आमोद हइत।" ...तिनि कीर्त्तन लिखितेउ बसेन नाइ, राधाकृष्णेर प्रेम लइया वइ लिखितेओ बसेन नाइ। गानगुलि भिन्न भिन्न समये, भिन्न भिन्न स्थाने, भिन्न भिन्न लोकेर फरमाइस मत लेखा हइयाछिल .....आमरा वेश करिया पिँजिया पिँजिया देखियाछि, ये विद्यापतिर अनेक गान राधाकृष्णेर

नामओ नाइ गन्धओ नाइ। अथच नगेन्द्रबाबू से गुलिकेओ कीर्त्तनेर छाँचे ढाला रसप्रवाहेर मध्ये बसाइया दियाछेन।"

अस्तु, इन पदों को पढ कर पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि कवि के अन्तर्हृदय का यथार्थ स्थायीभाव क्या था। मुझे तो यही प्रतीत होता है कि कवि केवल श्रृंगारिक थे और इनका जीवन भी प्रायः ऐसे ही लोगों के साथ राज-सभाओं में व्यतीत हुआ जिससे इनका मन अधिकतर श्रृंगार ही की तरफ झुका हुआ रहना स्वाभाविक था। यह पूर्व में भी कहागया है कि कवि राधा और कृष्ण के सच्चे स्वरूप से अपरिचित नहीं थे, किन्तु सच्चा प्रेम जिसे हम राधा-कृष्ण की भक्ति कहते हैं कविने अपनी इन कविताओं में कहीं नहीं दिखाया। प्रायः उनका उद्देश्य भी यह नहीं था। उन दिनों मिथिला में भक्ति की विशेष चर्चा भी नहीं थी जैसा कि चैतन्यदेव के समय में बंगाल में थी। विद्यापति न किन्हीं विरक्तभक्तों के संगठन में कभी थे, जिससे इन का भाव नवीन अवस्था में भक्ति की तरफ उद्बुद्ध होता।

एक बात और भी है। यद्यपि गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि मा शुचः॥ और इस वचन में अविश्वास करने का कोई कारण भी नहीं है। तथापि राधा-कृष्ण की भक्ति के मार्ग को ही मोक्ष-मार्ग समझलेने में कोई दृढ़ता नहीं है। प्रायः लोगों की यह एक मिथ्या धारणा है कि यह राधा-कृष्ण की भक्ति दुर्बल मार्ग है, तथा इस के अनुसरण करने से एक प्रकार की आसक्ति ही में रहना होगा। इत्यादि विचारों को लेकर प्रायः लोग इस मार्ग की अपेक्षा शुद्ध ज्ञानमार्ग ही को मोक्षमार्ग मानते हैं।

सम्भव है इन्हीं कारणों से विद्यापति के भी मन में राधा-कृष्ण की पूरी

भक्ति न जची हो, और इसी लिए केवल उनके बहिरंग प्रेम का अंश लेकर अपने पदों की रचना की हो। इस विचार के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि यदि राधा-कृष्ण की भक्ति ही को कवि अपना चरम उद्देश्य समझते तो संसार से विरक्त होने पर भी इन्हीं के सच्चे प्रेम को लेकर इनके अन्तरङ्ग स्वरूप का ही वर्णन करते रहते और शिव की तरफ नहीं दौड़ते।

विद्यापति हर और हरि में ऐक्य समझते थे इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं है। जैसे कि उन्होंने स्वय कहा है:—

भल हर भल हरि भल तुअ कला,
खन पित-वसन खनहि बघछला।
खन पंचानन खन भुज चारि,
खन संकर खन देव मुरारि।
खन गोकुल भए चराइअ गाय,
खन भिखि माँगिए डमरु बजाय।
खन गोविंद भए लिअ महादान,
खनहि भसम भरु काँख बोकान।
एक सरीर लेल दुइ वास,
खन वैकुंठ खनहि कैलास॥

इसलिए उनके विचार में बाद को शिव के भक्त हो जाने पर भी कोई अन्तर न हुआ होगा, यदि यह युक्ति कही जाए तो इसके उत्तर में इतना ही कह देना पर्य्याप्त है कि यह अभेद बुद्धि जितने अच्छे अच्छे ज्ञानी विद्वान हुए हैं सभी को थी; तथापि ज्ञानमार्ग ही को लोग पुरुषार्थ समझते आए हैं और ज्ञानदाता भी शिव ही को माना है। यह दार्शनिक सिद्धान्त ही नहीं

है किन्तु अनुभव में भी यही आता है। इसलिए सम्भव है कि . i कारणों से कवि ने राधा-कृष्ण के केवल बहिरंग प्रेम का स्वरूप लोगों के सामने रक्खा हो।

इन कविताओं को पढ़ कर विद्यापति की सरसता का परिचय लोगों को अनायास हो जाता है। मानुषीय हृदय के भावों का तथा उन के क्रमिक विकास का परिचय कवि को पूर्ण रूप से था। नायिका तथा नायक के प्रेम के प्रत्येक अंग तथा उभार का सजीवन चित्रण करने में कवि सिद्धहस्त मालूम होते हैं। एक ही भाव का अनेक प्रकार से चित्रण करना उनके लिए बड़ी आसान बात मालूम होती है। उनकी कविताएँ संचारी भावों के समान पढ़ने तथा सुनने वालों के हृदय में रस का सञ्चार कर देती हैं।

इनकी स्वभावोक्ति ने तो कहीं कहीं संस्कृत के कवियों की रचना को नीरस बना दिया है। 'लोचन-चोर' वाली कविता में देखिए। अनुप्रास साधारणतया कुछ न कुछ प्रायः सभी पदों में मिलते हैं किंतु विशेषरूप से 'छाँह छड़ल छुइ छाडल', 'ससासिखर सुधाकर', नगरक धेनु डगर कए संचर', 'आरति अरतल अञ्चए', 'हरि सम आनन' इत्यादि पदों में देख पड़ता है। यहाँ इतना कह देना अनुचित न होगा कि विद्यापति ने प्रयत्न पूर्वक कोई काव्य रचना की दृष्टि से इन पदों को तो बनाया ही नहीं। इसलिए अलंकारों का अधिक समावेश इनमें नहीं है।

मालूम होता है कि वस्तु स्थिति को देखते हुए, मनुष्य के हृदयगत भावों को ध्यान में रखते हुए, उनके स्वभाव के अनुकूल सरल किंतु सरस शब्दों में विद्यापति ने पदों की रचना की है। इसलिए इनके पदों में स्वभावोक्ति अत्यधिक है। वयःसन्धि के पदों को लीजिए। शैशव और यौवन अवस्था

के जितने लक्षण उन्हे स्त्रियों मे देख पड़े उन सभों को कवि ने चित्रित किए हैं। पुनः प्रातःकाल के वर्णन मे कितनी अच्छी स्वभावोक्ति है। प्राकृतिक वस्तुओं का कितना मनोहर चित्रण इसमे है और पुनः मम्मट के शब्दो मे 'कान्ता-सम्मित' उपदेश भी इसमें है। प्रेम के वास्तविक स्वरूप का उदाहरण कवि ने कितने अच्छे रूप मे 'कबहुँ रसिक सँय' इत्यादि पद में दिखाया है। अभिसार के वर्णन में कवि ने नायिका के व्यवहार का चित्रण उसके स्वरूपानुरूप ही तो किया है।

उत्प्रेक्षा में भी कवि ने अत्यधिक चमत्कार दिखाया है, इसमें सन्देह नहीं। नायिका के शरीर के गढ़ने मे और फिर उसके सौन्दर्य को पराकाष्ठा पर्यन्त पहुँचाने में कवि भवभूति के 'प्रश्च्योतन नु हरिचन्दनपल्लवाना निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजोऽनुसेकः' को स्मरण कराए विना नही रहते। नायिका के तारुण्य वर्णन में श्लेष के साथ-साथ कितना सुन्दर उत्प्रेक्षा किया है! 'मणिमय हार'को सुरसरि की धारा बना कर कहीं तो 'कमल'को सींचने मे और कहीं 'शंकर'को स्नान कराने में कवि ने अद्भुत चमत्कार दिखाया है। चक्रवाक की उत्प्रेक्षा भी कितना अपूर्व है। अपह्नुति अलंकार का उदाहरण तो बहुत ही उत्तम है। परन्तु यह 'जटा नेयं वेणी' इत्यादि संस्कृत पद्यका रूपान्तर मात्र है। फिर भी 'एक-पए दूखन नाम मोर वामा' यह कवि की अपनी उक्ति उसके चमत्कार कोबढ़ा ही देती है। इन चमत्कारो के रहते हुए भी हमे यह मालूम होता है कि विद्यापति ने काव्य के रूप मे इन पदों को नहीं लिखे। उनका ध्येय था मिथिला के राज-परिवार तथा सकल साधारण लोगों को आनन्द देने का एक मनोरञ्जक साधन प्रस्तुत करना। हाँ, इन्हीं में कुछ पद बहुत ही उत्तम और उच्च कोटि के साहित्यिक भी हैं। संस्कृत के विद्वानों के समाज मे रहते

हुए और स्वयं संस्कृत के विद्वान होने के कारण उन्होंने अपने पदो में सामाजिक जीवन से मिश्रित सुन्दर--भावों का प्रकाशन किया। इनके पद किसी क्रम से नहीं लिखे गए हैं। ये सब उद्भट पद हैं। और भिन्न-भिन्न समय पर रचे जाने के कारण इनमें पुनरुक्ति भी बहुत हैं। तथापि इनके पदो में जो चमत्कार और माधुर्य है वह अन्यत्र विरल है।

कवि के शब्दो में कही भी कठिनता नहीं है। प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग उन्हों ने किया है, किंतु तिस पर भी कितनी रोचकता तथा मधुरता से भरी हुई इनकी रचनाएँ हैं। यद्यपि विद्यापति ने मुसलमानी राज्य के दिनों मे अपनी कविताएँ लिखीं तथापि हिन्दी, उर्दू या फारसी के बहुत ही थोड़े शब्द इन की कविताओं में पाए जाते हैं। हाँ, संस्कृत के प्रसिद्ध शृंगारिक काव्यों के आधार पर उपमा, उपमेय, शब्दविन्यास और वाक्छटा की आभा पग-पग पर मिलती है।

कहा जाता है कि मिथिला में-विद्यापति के घर ही मे—विद्वानों ने इन की इन कविताओं का आदर नहीं किया। यह कथन अक्षरशः सत्य है। और इस का कारण ही क्या है ? मिथिला वैदिककाल से लेकर आज तक प्रौढ़-प्रौढ़ विद्वानों से व्याप्त रही है। एक से एक धुरंधर विद्वानों ने इस भूमि को पवित्र किया है, तथा अपने को भी पवित्र किया है। दार्शनिक विचारों का तो जन्मस्थान ही यह कहा जाए तो कोई अनुचित नहीं हैं। ये लोग ज्ञानोपार्जन तथा शास्त्रानुशीलन की अपेक्षा लौकिक चतुरता, ऐश्वर्य तथासभी लौकिक बातों का तिरस्कार करते आए हैं। बाह्याडंबर तो प्रायः अभी भी कदाचित् ही किसी योग्य मैथिल मे हो। वे लोग तत्त्वदृष्टि से काम करते थे। बड़े सादे स्वरूप मे रह कर तत्त्व की जिज्ञासा ही मे अपना जीवन बिताना एक मात्र

कर्तव्य मैथिल विद्वानों का रहा है। ऐसी स्थिति में विद्यापति की या और इन से भी अधिक उन्नत कवि की लौकिक बातों को सुनने या मनन करने में वे अपने समय को क्यों बिताते? इसी कारण विद्यापति की शृंगारिक रचनाओं की अपेक्षा शिव की नचारिया का अधिक आदर मिथिला मे हुआ है, होता है तथा होगा। हाँ, उनकी शृंगारिक कविताएँ केवल मैथिली स्त्रियों ही में विशेष आदृत होती हैं। इन लोगों ने इन कविताओं को जितना अपनाया है उतना और किसी ने नहीं।

मिथिला की स्त्रियों ने इन कविताओं को अपनी रुचि के अनुसार प्रधान-रूप से चार भागों मे विभक्त कर लिया है। प्रायः प्रेम की सभी कविताओं को ये 'तिरहुति' कहती हैं, तथा इन्हीं में जो अभिसार के भाव को लेकर नायक या नायिका के संबन्ध में हैं उन्हे 'बटगमनी' कहती हैं। इन्हे वैवाहिक अवसर पर अधिकतर वे गाती हैं। कुछ कविताएँ शृंगारिक होती हुई भी नायक को नायिका के वश में करने के भाव से जो गाई जाती हैं उन्हे वे 'योग' कहती हैं, तथा जिन मे नायिका के अनुनय तथा विनय भरे हुए हैं, उन्हे वे 'उचिती' कहती हैं। इन के अतिरिक्त और भी शृंगारिक कविताओं के कुछ विभाग हैं। ऐसी कोई भी मैथिली स्त्री न होगी जिसे विद्यापति की दस बीस कविताएँ कंठस्थ न हो।

ऊपर शृंगाररस की जितनी कविताएँ दी गई हैं उन मे जिन मे नायक या नायिका की विरहदशा का वर्णन है वह तो 'तिरहुति' कहलाती हैं इसलिए उनका उदाहरण पुनः देने की आवश्यकता नही है। अब अवशिष्ट दोनों विभागो के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं :—

योग

डाली कनक पसारल नैना[1] योग वेसाहल।

---

[1] इस 'नैना' नाम की योगिनी का परिचय विद्यापति ने स्वयं

नैना कोना आइलि सकल योग सँग लाइलि।
हेमत आनल वर पशुपति एकओ ने बाजथि दृढ़मति।
शुभ शुभ कय सभ भाखिअ गौरी वसि हर कएँ राखिअ।
भनहि 'विद्यापति' गाओल योगनिक अंत नहि पाओल ॥[२]

हमरा कएँ जओं तेजब गुन बूझब,
योगहिं देब बनिसार अधिन कए राखब।
एको पलक जओं तेजब गुन बूझब,
एहेन योग मोर तेज सेज नहिँ छोड़ब।
आरस काजर पाडब निसि डारब,
ताहि लय आँजब आँखि योग परचारब।
नयनहिँ नयन रिझाएब प्रेम लापब,
करब मोर गृमहार हृदय बिच राखब।
भनहि 'विद्यापति' गाओल योग लाओल,
दुलहा दुलहिन समधान अधिन कय राखब (ल) ॥[3]

उचिती

तोँहे प्रभु सुरसरि धार रे,
पतितक करिअ उधार रे।

दूसरे पद में दिया है—

सात वहिनि हम योगिनी, माइ
नैना थिकि जेठ वहिनी।
—मिथिलागीतसंग्रह—तृतीय भाग, गीत १०,

इस (नैना = आखेँ) में श्लेष भी कहा जासकता है।

[२] वही, भाग ३, गीत ६। [3] वही, गीत १६।

दुर सोँ देखल गांग रे,
पाप ने रहय आँग रे।
सुरसरि सेवल जानि रे'
पहुन परलमनि पाधि रे।
भनहि 'विद्यापति' भान रे,
सुपुरुष गुणक निधान रे॥[१]

विद्यापति का संप्रदाय—मिथिला में विद्यापति को कोई वैष्णव कवि नहीं कहता और न कोई उन्हे वैष्णव-भक्त ही कहता है। सभी इन्हें शृंगारिक कवि कहते आए हैं। हाँ, विद्वान लोग इनकी शिवभक्ति की अवश्य प्रशंसा करते हैं। बंगाल में विद्यापति वैष्णव कवि तथा भक्त कवि कहलाते हैं। इसका कारण यह है कि विद्यापति की कविता ने वहाँ राधा-कृष्ण की भक्ति की तथा उस तरह की कविता-रचनाओं की जड़ बोई थी। प्रारंभ में बंगाल के आदि वैष्णव कवि चंडीदास ने विद्यापति की कविताओं को ही लेकर अपनी कविताओं की रचना आरंभ की थी, यह प्रसिद्ध है।[२] इसका एक उदाहरण भी यहाँ देदेना उचित मालूम होता है—

विद्यापति	चंडीदास
(क) मलय पवन वहु मंदा।	(क) मलय पवन वहुक मंद।
(ख) दय तुलसी तिल देह, समर्पण, दया जानि छाडब मोय।	(ख) श्याम अनुरागे एतनु, वेंचिनु तिल तुलसी दिया।

[१] 'मिथिला गीतसंग्रह', भाग १, पृ० ३८-३९

[२] 'चंडीदास की कविता विद्यापति की कविता से ही प्रबुद्ध हुई थी'—रमेशचन्द्रदत्त।

(ख) **महेशवानी**[1]—**शिव की नचारी**[2]—विद्यापति की कविताओं का यह दूसरा विभाग है। पहले यह कहा जा चुका है कि अपने जीवन का अधिकतर भाग विद्यापति ने शृंगारिक कविताओं के बनाने में व्यतीत किया था। इसलिए अब समय भी थोड़ा था तथा उत्साह भी उतना नहीं था। यह अवश्य मालूम पड़ता है कि कवि ने कुछ कविताएँ हर-गौरी के सम्बन्ध में जिन्हें 'महेशवानी' कहते हैं पूर्व भी बनाई थी तथापि शुद्ध शिवभक्ति की 'नचारी' कविताएँ जान पड़ता है जब कवि को संसार से विरक्ति हो गई थी उस समय की हैं। इन्हीं कारणों से नचारी के पद उतने अधिक नहीं हैं जितने कि शृंगार के। परंतु जितने ही पद हैं, उन्हीं से इतना आनंद तथा संतोष मिल जाता है कि भक्तों को संसार की सभी वस्तुएँ इस के सामने तुच्छ देख पड़ती हैं। अभी भी मिथिला के किसी शिव-मंदिर में जाइए। देख पड़ेगा, क्या पुरुष क्या स्त्री, सभी नचारी गाने में मग्न हो रहे हैं। उन की समस्त इंद्रियाँ विभोर हो कर तन्मय हो रही हैं। सच है। यह अलौकिक एवं चिरस्थायी आनंद की महिमा है। नचारियों और महेशबानियों के एक-एक शब्द में यथार्थ आनंद भरा हुआ है। इसी को भक्त लोग गाते हैं और आनदरस का आस्वादन कर पागल से हो जाते हैं। इसी से तन्मयता भी उन लोगों में देख पड़ती है। यही कारण है कि 'आइने अकबरी' के लेखक इनकी कविताओं से केवल 'नचारी' को ही विद्यापति के संगीत का स्मरणीय रूप समझकर उल्लेख करते हैं।

---

[1] शिव और पार्वती के विवाहित स्वरूप के सम्बन्ध की भक्ति के पद।

[2] नचारी = शिव की शुद्ध भक्ति के पद।

किसी के शब्द में तथा रचना मे इतनी शक्ति कभी नहीं हो सकती कि उन के पढ़ने वाले तथा सुनने वाले विभोर हो जाएँ जब तक कि उस का रचयिता भी उतनी ही शक्ति को न रखता हो। इस अनुभव के अनुसार यह मालूम होता है कि अंत समय में विद्यापति पूर्ण भक्त हो गए थे। क्या विना भक्ति किए ही 'उगना' उन के पास दास बन कर रह सकते थे? क्या भक्ति विना ही गंगा जी अन्तकाल में उन की प्रार्थना सुन सकती थी?

ये महेशवानियाँ तथा नचारियाँ मिथिला के सभी प्रकार के लोगों में व्यापक रूप से आदृत होती हैं। स्त्री तथा पुरुष, कन्या तथा बालक, नवीन या प्राचीन सभी जात के लोग इन्हे सीखते हैं और शुभ कार्यों में गाते हैं। कोई भी शुभ कार्य ऐसा न होगा जिस में महेशवानी न गाई जाय। अविवाहित कन्याओं को विशेष रूप के केवल महेशवानी ही सिखलाई जाती है जिस से ये कन्याएँ सांसारिक प्रेम की बातें असमय में न सीखें और साथ ही साथ शिव-गौरी की शुद्ध भक्ति को आदर्श मान स्वयं गौरी के समान बनें। यदि यही भाव तथा यही शुद्ध आदर्श राधा-कृष्ण की कविताओं में विद्यापति ने रक्खा होता तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि मिथिला में उन कविताओं का भी महेशवानी के समान ही आदर होता। परंतु यह असंभव है। जो पवित्र तथा मर्यादापूर्ण भक्ति तथा आदर्श प्रेम हमे पार्वती और शिव में मिलता है वह राधा और कृष्ण के वर्णित स्वरूप में नहीं पाए जाते।

इस से लोगों को यह न समझना चाहिए कि यथार्थ प्रेम राधा और कृष्ण की भक्ति में है ही नहीं। ऐसा सच्चा प्रेम तो कहीं नहीं है[1] किंतु वह पर भाव लौकिक दृष्टि वालों के समझने के योग्य नहीं है। राधाकृष्ण के

[1] श्रीमद्भागवत तो इस के लिए सब से बढ़ कर प्रमाण है।

सच्चे स्वरूप को समझने के लिए अंतःकरण को अंतर्मुख करना होगा जो कि सभी नही कर सकते। अतएव सासारिक सभी लोग कृष्ण के प्रेम मे यथार्थ पागल नही हो सकते। पार्वती और शिव का प्रेम तो सभी का गम्य है। इसलिए लौकिक दृष्टि वालों के निमित्त शुद्ध प्रेम का आदर्श अनायास पार्वती-शिव में मिलता है, न कि राधा-कृष्ण में।

अब कुछ आदर्श महेशवानियाँ यहाँ उद्धृत की जाती है—

जोगिआ एक हम देखलौं गे माइ,
अदभूत[1] रूप मोहि कहलो ने जाइ।
पाँच वदन तिनि नअन विसाला,
वसन विहुन[2] ओढ़न वघछाला।
सिर वहु गंग तिलक सोभे चंदा,
देखि सरूप मेटल दुख दंदा[3]।
जाहि जोगिआ लए रहलि भवानी,
सएह जोगिआ माइ आबि तुलानी[4]।
कुल नहि सिल नहि तात महतारी,
वएस हिनक[5] थिक लछ[6] जुग चारी।

---

[1] 'अनहद' पाठान्तर है। इसका अर्थ 'अनन्त' है। [2] रहित। [3] दुःख का संशय या दुःख-सुख दोनों। परमशिव के साक्षात्कार हो जाने से जिस अवस्था में भक्त पहुँचते हैं वह अवस्था सुख और दुःख दोनों से परे है। [4] मन आनलि वर कोन गुन जानी—पाठान्तर। [5] इनका। [6] चार लक्ष युग की इनकी अवस्था है

भनहि 'विद्यापति' सुनिए मनाइनि,
इएह जोगिश्रा थिक त्रिभुवन दानी ॥

हम सों रुसल महेसे,
गौरि विकल मन करथि उदेसे ।
पुछिश्र पॅथुकजन [1] तोही,
ए पथ देखल कहु बूढ बटोही ।
अंग मे विभूति अनूपे,
कतेक कहब हुनि जोगिक सरूपे,
'विद्यापति' भन ताही,
गौरी हर लए मेलि वताही [2] ॥

अब कुछ आदर्श नचारियों का उदाहरण देखिए—

तोंह प्रभु त्रिभुवननाथे, हे हर !
हम निरदोस अनाथे ।
करम धरम तपहीने,
पड़लहुँ पाप अधीने ।
वेंड़ [3] भासल मझधारे,
भैरव धरु करुआरे [4] ।
सागर सम दुख भारे,
अबहु फरिश्र प्रतिकारे ।

अर्थात् वहुत ही बूढ़े महादेव हैं और यह पार्वती के योग्य वर नहीं हैं। [1] पथिकजन ।

[2] पगली । [3] नाव । [4] डाँड़ ।

भनहि 'विद्यापति' भाने।
संकट करिअ तराने॥

हर जनि बिसरब मोर ममिता,
हम नर अधम परम पतिता।
तुअ सम अधम उधार न दोसर,
हम सन जगत नहि पतिता।
जम के दुआर जवाव कओन देब,
जखन बुझत निज गुन कर बतिआ।
जब जम किंकर कोपि उठाओत,
तखन के होएत धरहेरिआ[1]।
भन 'विद्यापति' सुकवि पुनित मति,
संकर बिपरित बानी।
असरन सरन चरन सिर नाओत,
दआ करु दिअ सुलपानी॥

आगे माइ, जोगिया मोर सुखदायक
दुख ककरो नहि देल।
दुख ककरो नहि देल महादेव
दुख ककरो नहि देल।
एहि जोगिया के भाँग भुलओलक[2]
धुथुर खोआए धन लेल।

---

[1] बचाने वाला।
[2] भुला दिया।

आगे माइ, कातिक गनपति दुइजन बालक
जग भरि के नहि जान।
तनिका अभरन किछुओ[1] न थिकइन[2]
रति एक सोन नहि कान[3]।
आगे माइ, सोना रूपा अनका सुत अभरन
अपना रुद्र क माल[4]।
अपना सुत लए किछुओ न जुरइनि[5]
अनका लए जंजाल[6]।
आगे माइ, छन में हेरथि कोटि धन बकसथि
ताहि देवा नहि थोर[8]।
भन 'विद्यापति' सुनह 'मनाइनि'
थिकाह[9] दिगम्बर भोर[10]॥

कखन हरब दुख मोर
हे भोलानाथ।
दुखहि जनम भेल दुखहि गमाओल
सुख सपनहु नहि भेल, हे भोलानाथ।

---

[1] कुछ भी। [2] है। [3] एक रत्ती भर भी सोने का आभरण शिव के बालकों के कान में नहीं है। [4] रुद्राक्ष की माला। [5] जुटता है। [6] ढेर। [7] प्रसन्न होकर उदारता पूर्वक देते हैं। [8] इन्हें धन की कमी नहीं है। [9] हैं। [10] भोला अति सरल प्रकृति के देवता हैं।

आछत चानन आओर गंगाजल
बेलपात तोहिं तोडि देब, हे भोलानाथ।
एहि भवसागर थाह कतहु नहि
भइरब धरु कर आए, हे भोलानाथ।
भन 'विद्यापति' मोर भोलानाथ गति
देहु अभय वर मोहि, हे भोलानाथ॥

ए हर! गोसाञेनाथ! तोहर सरन कएलञो।
किछु न धरब सबे बिसरब पछाँ जे जत कएलञो।
कपट मह पड़ु कलेवर गिड़ल मञन[1] गोहे[2]।
भल मंद सबे किछु न गुनल जनम वहल मोहे।
कएल उचित सेल अनुचित मने मने पचतावे।
आबे कि करब सिरे पए धुनव गेल दिना नहि आवे।
अपथ पथ चरन चलाओल भगति मन न देला।
परधनि धन मानस वाढ़ल जनम निफले गेला।
चरित चातर मन बेआकुल मोर मोर अनुबंधा।
पूत कलत्र सहोदर बन्धब अंतकाल सबे धंधा।
भन 'विद्यापति' सुनह संकर कएल तोहर सेवा।
अतए जे वरु से बरु करब ओतए सरन देवा॥

ये भक्ति के पद कितने भावों से ओतप्रोत हैं! भक्ति से तन्मय होकर कवि के हृदय की तन्त्री एक-एक कर सजीव हो जाती है और शब्दों के द्वारा बाहर निकल कर गाने वाले तथा सुनने वाले सभी को भक्तिरस

[1] मदन। [2] ग्राह।

के अलौकिक आनन्द के प्रवाह में अपने साथ-साथ तन्मय बनाकर विह्वल कर देती है। यही अलौकिक भाव भक्तों में भरा रहता है। विद्यापति इस समय अपने पूर्व जीवन पर पश्चात्ताप करते हुए भक्ति रस में डूब कर अलौकिक आनन्द का आस्वादन कर रहे हैं।

इसी विभाग में विद्यापति के बनाए हुए दुर्गा के पद (जिनको मिथिला में 'गोसाउनिक गीत' कहते हैं) तथा गंगा के पद भी सम्मिलित किए जाते हैं। उनमें से एक-दो नमूने के तौर पर मैं यहाँ दे देता हूँ—

दुर्गा की स्तुति

जय जय भैरवि असुर भयाउनि,[1]
पशुपति भाविनि[2] माया।

---

[1] असुरों के भय से बचानेवाली तथा असुरों को भय देने वाली। [2] 'भाविनि' के स्थान पर 'भामिनि' भी पाठान्तर है। शिव शक्ति से सम्पन्न होने ही से अपना प्रभुत्व दिखा सकते हैं अन्यथा नहीं। जैसा कि शंकराचार्य ने अपने 'सौन्दर्यलहरी' में कहा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो भवति कुशलः स्पन्दितुमपि॥

इस भाव को मन में रखने से 'भाविनि' पाठ शुद्ध है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'भगवती' शिव की 'शक्ति' हैं। 'भामिनि' का अर्थ केवल 'भयंकररूपा स्त्री' है। इसी से 'माया' शब्द का भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'माया' शब्द वास्तव में यहाँ 'महायोग-माया' के अर्थ में प्रयुक्त है।

सहज सुमति वर दिअओ गोसाउनि[1],
अनुगति गति तुअ पाया।
वासर रैनि सवासन सोभित
चरन चंद्रमणि चूड़ा।
कतओक[2] दैत्य मारि मुँह मेलल,[3]
कतओ उगिल कएल कूड़ा।
सामर बरन नयन मदरंजित,
जलद-योग फुल कोका[4]।
कट कट विकट ओठ-पुट पाटित[5]
रुधिर फेन उठ फोका[6]।
घन घन घनय घुघुरु कत बाजय,
हन हन कर तुअ काता[7]।

---

[1]हे गोसाउनि (भगवति) स्वाभाविक अच्छी बुद्धि रूपी वर हमें आप दें। हम आप के शरण में प्राप्त हैं। दिन रात महादेव आपके चरण के नीचे शोभित होते हैं। और चन्द्रकान्तमणि आपके केशपाश में लटक रहा है। कितने दैत्यों को मार कर आपने अपने मुख में रखलिया और कितनों को तो मुख से बाहर निकाल कर कूडे के समान फेंक दिया। श्याम तो आपके शरीर का रंग है और नेत्र मद के राग से सुशोभित है मानो श्याम मेघ में कमल के फूल खिले हों।

[2] कितने। [3] खाया। [4] कोकनद। [5] पाटलवर्ण। [6] बुद्बुद। [7] खड्ग।

'विद्यापति' कवि तुअ पद सेवक,
पुत्र बिसरु जनु माता ॥

कनक-भूधर-शिखर वासिनि चन्द्रिकाचय चारु हासिनि
दशन कोटि विकाश बङ्किम तुलित चन्द्रकले ।
क्रुद्धसुररिपुबलनिपातिनि महिषशुम्भनिशुम्भघातिनि
भीतभक्तभयापनोदनपाटलप्रबले ।
जय देवि दुर्गे दुरिततारिणि दुर्गमारि विमर्दकारिणि
भक्तिनम्रसुरासुराधिपमङ्गलायतरे ।
गगनमण्डलगर्भगाहिनि समरभूमिषु सिंहवाहिनि
परशुपाशकृपाणशायकशङ्खचक्रधरे ।
अट्टहासविसङ्गशालिनि शूकरकृताकपालकदम्बमालिनि
दनुजशोणितपिशितवर्द्धितपारणारभसे ।
संसारबन्धनिदानमोचिनि चन्द्रभानुकृशानुलोचिनि
योगिनीगणगीतशोभितनृत्यभूमिरसे ।
जगति पालनजननमारणरूपकार्यसहस्रकारण-
हरिविरञ्चिमहेशशेखरचुम्ब्यमानपदे ।
सकलपापकलापरिच्युति सुकवि 'विद्यापति' कृतस्तुति-
तोषिते 'शिवसिंह' भूपतिकामनाफलदे ॥

अलंकारों से भरा हुआ कठोर शब्दों से युक्त वीररस को बढ़ाने वाली फिर भी कितना मधुर और विनय से सम्पन्न देवी को प्रसन्न करनेवाली यह स्तुति है। संस्कृतभाषा पर कवि का कितना अधिकार है यह भी इससे स्पष्ट होता है।

गंगा जी की महिमा गाते हुए कवि ने कहा है—

बड़ सुख साधे पाओल तुअ तीरे,
छाड़इते निकट नयन बह नीरे।
कर जोड़ि बिनमओं विमल तरंगे,
पुनु दरसन होइह पुनमति गंगे।
एक अपराध खेमब मोर जानी:
परसल माए पाए तुअ पानी।
कि करब जप तप जोग धेआने,
जनम कृतारथ एकहि सनाने।
भनइ 'विद्यापति' समदओं[1] तोही,
अंतकाल जनु बिसरह मोही॥

(ग) विविध-विषयक—यह तीसरा विभाग है। इस में जितनी फुटकर कविताएँ कवि ने की हैं वे सब सम्मिलित की जाती हैं। राज्यारोहण तथा शिवसिंह के युद्ध वाली कविताएँ तो पहले कही जा चुकी हैं। अब कुछ दूसरे प्रकार की कविताओं के नमूने भी यहाँ दे देना उचित है—

प्रथम[2] एकादश[3] दए[4] पहु गेल,
सेहो रे वितल कते दिन भेल।
रितु[5] अवतार[6] वयस मोर भेल,
तइओ न पहु मोर दरसन देल।
चान किरन मोहि सहलो न जाय,
चानन सीतल मोहि न सोहाय।

---

[1] संवाद देता हूँ—प्रार्थना करता हूँ।
[2] क। [3] ट। [4] कटदण=अवधि दे कर। [5] ६।
[6] १०, अर्थात् १६ वर्ष की मेरी अवस्था हुई।

भनइ 'विद्यापति' सुनु व्रजनारि,
धइरज धए रह मिलत मुरारि ॥

हरि सम आनन हरि सम लोचन,
हरि तह हरि वर आगी ।
हरिहि चाहि हरि हरि न सोहावए,
हरि हरि कए उठ जागी ।
माधव हरि रहु जलधर छाइ ।
हरि नयनी धनि हरि घरिनी जनि,
हरि हेरइते दिन जाइ ।
हरि भेल भार हार भेल हरि सम,
हरिक वचन न सोहावए ।
हरिहि पइसि जे हरिहि नुकाएल,
हरि चढ़ि मोर बुझावए ।
हरिहि वचने पुनु हरि सओ दरसन,
सुकवि 'विद्यापति' भाने ।
राजा 'सिवसिंह' रूपनराएन,
'लखिमा' देवि रमाने ॥

ऐसे भी अनेक पद हैं। इन मे अर्थ-गौरव विशेष नहीं मालूम होता है। केवल अनेकार्थक एक शब्द या एकार्थक अनेक शब्दों का जालमात्र फैलाने में कवि की चतुरता इन पदों में विद्यमान है। यमक और अनुप्रास का यह कैसा अच्छा उदाहरण है।

जीवन से विरक्तिभाव के और शैशव एवं युवा अवस्था के स्वरूप को

दिखाते हुए वृद्धशरीर के वर्णन में कवि ने कितना सुन्दर पद कहा है—

वयस कतए तजि गेला।
तोँह सेवइत जनम वहल तइओ न अपन मेला।
सैसव दसा जाहि खोअओला हे
मधुर माइक छीर।
दुइ सिरि फलह छाह सोअओला हे
कोमल काँच सरीर[1]।
दाँत झडि मुंह थोथड[2] भए गेल
झडि गेल सबे दाप[3]।
तीनू भुअन बइसल देखिअ
जनि केचुआएल[4] साप॥
आंखि मलामलि दूर न सूझए
बने फुटि गेल कासी[5]।
दुअओ धराधर धरि निरोधिअ
तर ऊपर उकासी[6]॥

इस प्रकार प्रायः सभी विभाग की कविताओं के नमूने दिए जा चुके हैं। इन्हीं को लेकर मिथिला, मैथिल तथा मैथिली को गौरव है। एक समय था जब बंगला तथा हिंदी भाषा के भाषी इन्हें लेकर अपना अक्षुण्ण गौरव मानते थे

---

[1] युवावस्था में। [2] दन्त रहित मुख। [3] दर्प। [4] केचुली से युक्त साँप जिस प्रकार स्थिर होकर रहता है।

[5] बाल सफेद हो गये। [6] दोनों हाथों के बल उठ-बैठ करता हूँ और खाँसता रहता हूँ।

किंतु अब मैथिल लोग भी जाग उठे। अपने खोए हुए धनको सम्हाला और विद्यापति का तथा उनकी भाषा को अपना जान कर उन्हें सब तरह से अपनाया। पूर्व मे मैथिल विद्वानों को 'भाषा' की ओर जो उदासीनता थी वह अब बहुत दूर हो गई है।

विद्यापति की लौकिकोक्तियाँ

विद्यापति की कविताओं में भाव-सम्बन्धी जो विशिष्टताएँ हैं उनका यत्-किंचित् निर्दशन किया जा चुका है। परंतु इनमें भावों के अतिरिक्त एक और भी अंश है जो विद्यापति की ख्याति का कारण हुआ है। यह अंश है उनकी लौकिकोक्तियाँ। ये उक्तियाँ इतनी अच्छी तथा व्यापक हैं कि प्रत्यह उनके प्रयोग होते रहते हैं और कहावतों की भाँति लोग उन से लाभ उठाते हैं। यहाँ पर नमूने के तौर पर उनकी लौकिकोक्तियो का एक संग्रह दिया जाता है। पहले अवहट्ठ भाषा के कुछ उदाहरण काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कीर्त्तिलता' से दिए गए हैं, और बाद में मैथिली के अन्य रचनाओं से।

अवहट्ठभाषा की लौकिकोक्तियाँ

१—अवसओ उद्यम लच्छि बस, अवसओ साहस सिद्धि।

लक्ष्मी उद्यम में निश्चय करके बास करती हैं, और साहस मे भी अवश्य ही सफलता है।

२—अवसओ विसहर विस वमइ, अमिअ विमुक्कइ चन्द।

विषधर सर्प अवश्य ही विष उगलता है, और चन्द्रमा अमृत की ही वर्षा करता है।

३—चान्दन क मूल इन्धन विका।

चंदन के समान भाव में ईंधन विका।

४—चोर घुमाइअ नाअक[1] हाथें।

चोर को नाथ के बल घुमाना चाहिए।

५—छोटेओ तुरुक्का अभकी मार।

तुर्कों का छोटा-सा भी बच्चा (हिंदुओं को) डरवाता है।

६—जइ साहसहु न सिद्धि हो झंख कविब्बउँ काह।

यदि साहस करने से भी सिद्ध न मिले तो मनहूस हो कर शोक करने ही से क्या होगा।

७—जनि उजड़ल लंका।

जैसे लंका उजड़ गई हो।

८—तावे न जीवन नेह रह, जावे न लग्गइ मान।

जब तक जीवन में कोई मान नहीं, तब तक उस मे स्नेह नहीं।

९—दुक्खे सिज्झइ राअ घर कज्ज।

बड़े कष्ट से राजा के दरबार मे कार्य की सिद्धि मिलती है।

१०—नहु मान् धनष्खि भिष्ख भावइ।

मानधन् को भीख माँगना नही शोभा देता है।

११—पुरिस कम्म साहस करिज्जइ।

साहस करना पुरुष का कार्य है।

१२—फल दैवह आअत।

फल भाग्य के अधीन होता है।

---

[1] नाअ = नाथ, या नाक में लगी हुई वह डोरी जिससे पशु को उस का स्वामी अपने अधिकार में लाता है।

१३—महुअर बुज्झइ कुसुमरस, कव्वकलाउ छइल्ल।
सज्जन पर उअआर मन, दुज्जन नाम मइल्ल॥

भ्रमर ही फूलों के रस को पहचानता है तथा कला में निपुण पुरुष ही काव्य की कला का अनुभव कर सकता है। सज्जनों का मन परोपकार में लगा रहता है किंतु दुर्जनो का मन केवल मलिनता से भरा रहता है।

१४—वाणिज होइ विअक्खणा धम्म पसारइ हट्ट।
भिच्चा मिच्चा कंचना विपथ काल कसवट्ट॥

चतुर लोग बनिए के समान हैं। धर्म का प्रसार ही हाट है। भृत्य तथा मित्र सोना है, और विपत्ति काल ही उन की कसौटी है।

१५—विपइ न आवइ तासु घर जसु अनुरत्तेओ लोग।
जिस में लोग अनुरक्त होते हैं, उसके घर विपत्ति नही आती।

१६—विभ हीन नत्थि वाणिज्ज।
विना विभव का वाणिज्य नहीं होता है।

१७—वे भूपाल मेइनी वेण्डा एक्का नारि।
सहहि न पारइ वेवि भर अवस करावए मारि॥

दो राजाओं वाली पृथ्वी, तथा दो पुरुषों की एक ही नारी ये दोनों का भार नही सह सकती। ये अवश्य ही लड़ाई करवाती हैं।

१८—सव्वउँ केरा रिज नअन तरुणी हेरहि वंक।
चोरी पेम पिआरिओ अपने दोष सशंक॥

तरुणी स्त्रियाँ सभी की भोली-भाली नजर को तिरछी समझती हैं। चोरी से प्रेम करने वाली प्रेयसियाँ अपने ही दोष से डरी हुई रहती हैं।

१९—होज होसई।
होनहार ही होता है।

*

मैथिली की लौकिकोक्तियाँ

१—अति रतिहठे[1] नहि जीवए नारि[2]।

२—अपदहि[3] गिरि सम गौरव गेल[4]।

३—अपन वेदन[5] तिहि[6] निवेदिअ,[7]
जे पर वेदन[8] जान[9]।

४—अपनहु[10] न देखिअ अपनुक देह[11]।

५—अपने आरति[12] न मिल आन[13]।

६—अपने साँसेँ जाइति उड़िआए[14]।

---

[1] रतिके लिए हठ करने से। [2] विद्यापतिपदावली, संख्या २५६ (नगेन्द्रनाथगुप्तसंस्करण)। आगे से नगेन्द्रनाथगुप्त के संस्करण का उल्लेख करने पर मैं विद्यापतिपदावली की संख्या दूँगा और गङ्गानन्दसिंह के संस्करण के लिए पृष्ठ दूंगा। [3] अनुचित स्थान पर अर्थात् व्यर्थ। [4] पर्वत के समान बड़ा मेरा गौरव व्यर्थ नष्ट हो गया—विद्यापतिपदावली सं० ४२६। [5] दुःख। [6] उसे। [7] निवेदन करे। [8] दूसरे का। [9] विद्यापतिपदावली, सं० ३४५।

[10] अपने से भी अपने शरीर को न निहारना चाहिए। [11]विद्यापतिपदावली, सं० ४७७। [12]आर्त्ति = उत्कट उत्कंठा। [13] अपने में अत्यंत उत्कंठा होने पर भी दूसरा नहीं मिलता है—विद्यापतिपदावली, सं० १४०। [14]वह नायिका इतनी दुबली हो गई है कि अपने सांस ही की हवा से उड़ जायगी—विद्यापतिपदा-

७—अरथ असम्भव के पतिआए[1]।

८—अवसर वहला रह पचताव[2]।

९—अवसर लाख लहए उपकार[3]।

१०—असमय आस न पूरय काम[4]।

११—आइति[5] पडले बुझिअ विवेक[6]।

१२—आँकम[7] नामे रहए हिअ हारि।
जनि करिवर तर खसल पओनारि[8]।

१३—आगि क दहने आगि प्रतिकार[9]।

१४—आगि जारिअ पुनु आगिहिक काजे[10]।

वली, सं० ७६२। [1] असम्भव अर्थ का विश्वास कौन करेगा—विद्यापतिपदावली, सं० ३०। [2] अवसर चूकने पर केवल पछताना ही पड़ता है—विद्यापतिपदावली सं० ३४८। [3] अवसर आने पर लाखों उपकार होता है—विद्यापतिपदावली सं० २३६। [4] कामदेव असमय में किसी की आशा नहीं पूरी करता—विद्यापतिपदावली, सं० १६५। [5] आयत्ति=अधीनता। [6] अधीनता प्राप्त करने पर लोगों की विवेक-बुद्धि का पता लगता है—विद्यापतिपदावली, सं० १२५। [7] गोद का। [8] गोद का नाम लेते ही इस प्रकार हृदय हतारा हो जाता है जैसे एक वड़े हाथी के नीचे गिर जाने से पद्मनाल की दशा हो जाती है—विद्यापतिपदावली, सं० १५६। [9] विद्यापतिपदावली, सं० १७६। आग से जलजाने पर भी फिर घर में आग ही का कार्य पड़ता है। [10] विद्यापतिपदावली, सं० २०१।

१५—आडम्बर आदर हो सव तहु[1]।

१६—आदरे जानिअ आगिल काज[2]।

१७—आदि अन्त नहिँ महघ[3] पसार[4]।

१८—आन औषध कर आन बेआधी[5]।

१९—आनक वेदन नइ बुझ आन[6]।

२०—आरति अधिक न रह मुख सोभ[7]।

२१—आरति गाहक महग बेसाह[8]।

२२—आसा-भंग दुख मरन समान[9]।

२३—आसा-लुबुधल न तेजए रे,
कृपन क पाछु भिखारि[10]।

---

[1] इस संसार में आडंबर से सब जगह आदर होता है—विद्यापतिपदावली (महेशवानी) पृ० ५१० (नगेन्द्रनाथगुप्त संस्करण)। [2] किसी के पास जाने पर यदि वह आदर भाव दिखलावे तो समझना चाहिए कि जिस कार्य के लिए वह आया है वह सिद्ध होगा—विद्यापतिपदावली, सं० ३३४। [3]महँगा। [4] महार्घ विक्रय का कोई आदि अंत नहीं है। [5]रोग तो कोई और है, और दवा और ही हो रही है—विद्यापतिपदावली, सं० ७९। [6]दूसरे का दुःख दूसरा नहीं समझता—विद्यापतिपदावली, सं० १८२। [7]दुःखी आदमी के मुख पर शोभा नहीं रहती—विद्यापति-पदावली, सं० २२०। [8]जिस गाहक को चीज़ खरीदने की बड़ी आवश्यकता रहती है वह महँगा ही खरीदता है—विद्यापतिपदावली, सं० १२९। [9]विद्यापतिपदावली, सं० ३५९। [10]आशा-लुब्ध भिक्षुक

२४—एकसरि तारा केअओ नहिं देख[1]।

२५—ए सखि! राखहिसि अपनुक लाज,
परक दुआरे करह जनु[2] काज,।
परक दुआरे करिअ जओ[3] काज,
अनुदिन अनुखने पाइअ लाज[4]॥

२६—कउड़ि पठओले पाव नहिँ घोर[5]।

२७—कउन[6] मुगुधि[7] आलिंगति आगी[8]।

२८—कएले धन्धे[9] धरम दुर जाए[10]।

२९—कएटक दोसेँ केतकि सञो रूसल।

३०—कतए भीति जओ दृढ़ अनुरागे[11]।

३१—कतए सुनल अछ जुडि[12] हो आगि[13]।

जिस प्रकार कृपणों का भी पीछा नहीं छोड़ता है—विद्यापतिपदावली, सं० ५२। [1]एक मात्र तारा को देखना अशुभ माना जाता है—विद्यापतिपदावली सं० ५३६। [2]नहीं। [3]अगर। [4]हे सखी! यदि अपनी लाज रखना चाहती हो, तो दूसरे के घर कोई काम न करो। यदि ऐसा करोगी तो सदा लाज में पड़ोगी—विद्यापतिपदावली, सं० ३१। [5] मट्ठा बहुत महँगा बिकता है, उसे खरीदने के लिए तुच्छ मूल्य बाज़ार नहीं भेजना चाहिए—विद्यापतिपदावली, सं० २१७। [6]कौन। [7]मुग्धा स्त्री। [8] विद्यापतिपदावली, सं० ३९१। [9]संशय। [10]संशय करने से धर्म नष्ट हो जाता है—विद्यापतिपदावली, सं० ९३।

[11]यदि सच्चा और स्थिर प्रेम है तो कोई भय नहीं—विद्यापतिपदावली, सं० २९७। [12]शीतल। [13]आग शीतल होती है, यह कहाँ सुना है—विद्यापतिपदावली, सं० ५१२।

३२—कत कत लखिमी चरणतल नेउछय[1]।

३३—कर सञो खसल परसमनि रे,
के लेल अपनाई[2]।

३४—कह 'कविसेखर' गरुअ[3] भूख पर,
करु जनु थोर[4] अहार[5]।

३५—कहल न बूझए हृदय क सून[6]।

३६—काच काँचन न जानय मूल[7]।

३७—किय विपदह समय जलदाने[8]।

३८—कुदिना[9] हितजन अनहित रे,
थिक जगत सोभाव[10]।

---

[1] विद्यापतिपदावली, सं० २।

[2] हा! पारस-मणि मेरे हाथ से गिर पड़ा, पता नहीं, किस ने उसे चुरा लिया—मिथिला-गीतसंग्रह, भाग २, पृ०२६। [3]अधिक। [4]थोड़ा। [5]भोजन—विद्यापतिपदावली, सं० १७८। [6] हृदय-शून्य लोग कही हुई भी बात नहीं समझते—विद्यापतिपदावली, सं० ४३१। [7] सोने का मूल्य काँच नहीं समझता है—विद्यापति-पदावली, सं० १६८। [8] विष देने के समय में जल देनेसे क्या लाभ है—विद्यापतिपदावली, सं० ८६। [9] बुरे दिन में। [10] यह संसार का नियम है कि बुरे दिनों में हित करने वाले भी लोग शत्रु हो जाते हैं—विद्यापतिपदावली, सं० ७२०।

३९—कुम्भी[1] जल कएँ जेहन पिरीति[2]।

४०—कुल रखले रह[3]।

४१—कूप न आवए पथिक क पास[4]।

४२—केओ नहिँ वेकत[5] करए निअ[6] चोरि[7]।

४३—गुञ्जा[8] रतन करए समतूल[9]।

४४—गेल जउवन पुनु पलटि न आवए,
केवल रह पचतावे[10]।

४५—गेल दिन पुनु पलटि न आव[11]।

---

[1] सेमार के समान जल में होने वाली एक लतर। इस के पत्ते वहुत ही छोटे होते हैं। जिस तालाव में यह फैल जाता है उस का जल वहुत खराव हो जाता है। [2] इन दोनों की प्रीति नाशकारक है। मिथिला-गीतसंग्रह, भाग ४, पृ० ६। [3] रक्षा करने ही से कुल की रक्षा होती है। विद्यापति-पदावली, सं० २१५। [4] मार्ग में जाते हुए प्यासे पथिक के पास कुआँ उठ कर नहीं आता, प्रत्युत पथिक ही जल को खोजते हुए कुँए के पास जाता है—विद्यापतिपदावली, सं० ४४४।

[5] व्यक्त—प्रगट करना। [6] निज—अपनी। [7] कोई भी अपनी चोरी को प्रगट नहीं करता—विद्यापतिपदावली, सं० २५६। [8] एक लाल रंग का वहुत छोटा गोलमिर्च के समान फल होता है, उसके सर पर काला निशान भी होता है। इस से सोना तौला जाता है। [9] गुँजा और रत्न को वरावर करते हैं—विद्यापतिपदावली, सं० १६८। [10] विद्यापतिपदावली, सं० ६१। [11] विद्यापतिपदावली, सं० ३४८।

४६—गेल दिना नहिँ आवए[1]।

४७—गेल भाव जे पुनु पलटावए,
सेहे कलामति नारी[2]।

४८—गोप भरमे जन बोल्ह गमार[3]।

४९—घीउ उधार माँग मति-भोर[4]।

५०—चोरि पिरीत होय लाख गुन रंग[5]।

५१—छिक्कहि नहिँ चली[6]।

५२—छोट पानि चह-चह कर पोठी[7],
के नहिँ जान[8]।

---

[1] विद्यापतिपदावली। [2] नष्ट हुए रस को जो स्त्री फिर से नायक में उत्पन्न करे वही 'कलावती' कहलाती है—विद्यापति-पदावली, स० ५४१। [3] मैं अहीर हूँ, यह जान कर मुझे मूर्ख नहीं समझना—विद्यापतिपदावली, सं० ९२। [4] घी बड़ी महँगी चीज है उसे उधार माँगना केवल मूर्खता है। मति-भोर=मूर्ख—विद्यापतिपदावली. सं० २१७। [5] छिपे हुए प्रेम में बहुत अधिक आनंद मिलता है—विद्यापतिपदावली, सं० १०६। [6] यात्रा के समय कोई छींक दे तो कुछ देर रुक जाना चाहिए—विद्यापतिपदावली, सं० ६३। [7] चह—चह करना=फड़फड़ाना। [8] यह कौन नहीं जानता कि थोड़े पानी में पोठी मछली बड़ी प्रसन्न रहती है—विद्यापतिपदावली। इसी बात को संस्कृत में किसी ने कहा है—'अंगुष्ठोदकमात्रेण शफरी फर्फरायते'।

५३—जइओ जकर मुह पेच[1] सन,
दूसए[2] चाहए आन[3]।

५४—जइसन परहोंक[4] तइसन वीक[5]।

५५—जउवन रूप तावे[6] धरि छाजत,
जावे[7] मदन अधिकारी[8]।

५६—जकरा[9] जासओ[10] रीति,[11]
दुरहुक दुर[12] गेले दोगुन पिरीत[13]।

५७—जगत विदित थिक सब काँ सब तहु[14],
मन काँ मन थिक साखी[15]

५८—जत विसरिअ तत विसर न जाए।[16]

५९—जत विछुरिअ[17] तत विछुर न जाए।

६०—जिव जओ, जनि निरधने निधि पाए,
खन हेरए, खने राख झपाए[18]।

[1] एक प्रकार की मुँह बनाने वाली पक्षी। [2] मुँह बनाना। [3] जो स्वयं वदसूरत है, वह भी दूसरे को वदसूरत कहना चाहता है—विद्यापतिपदावली। [4]बोहनी। [5]बोहनी पर बिक्री निर्भर रहती है—विद्यापतिपदावली, सं० १२६। [6]तब तक। [7]जब तक। [8]विद्यापतिपदावली, सं० ६१। [9]जिसे। [10]जिस के साथ। [11]प्रेम। [12]अत्यंत दूर। [13] विद्यापति पदावली, सं० ५०७। [14]तहु=प्रकार। [15]यह सब प्रकार सब को मालूम है कि मन का साक्षी मन ही होता है—विद्यापतिपदावली, सं० ४५३। [16] वि० प० सं० ६७; जितना ही भूलें उतना ही नहीं भूलता। [17] दूर हों। [18](पदरत्नाकर) जितना ही अलग हों उतना ही अलग होने नहीं देता।

६१—जुवति चरित वड विपरीत बुझए केदहु[1] पार,
बुझए चेतन-गुन निकेतन भुलल रह गमार[2]।

६२—जे अनुपम[3] उपभोग न आवए,
की फल ताहि[4] निहारि।[5]

६३—जे अँगिरिअ[6] ताँ[7] न गुनिअ गारि।[8]

६४—जे अँगिरिअ ता[9] न होइअ उदास[10]।

६५—जे कर[11] साहस ता[12] हो सिधि[13]।

६६—जे किछु कबहु नहिँ कलारस जान,
नीर खीर[14] दुहु करए समान[15]।

६७—जे पुनु जानए रतन साँच[16],

जैसे एक दरिद्र कोई धन का खजाना पाने पर उसे बार-बार उलट-पुलट कर देखता है, और उसे छिपा लेता है उसी प्रकार मैं अपने प्राण को देखता हूँ और छिपाता हूँ—विद्यापतिपदावली, सं० १८५। [1]कोई भी। [2] विद्यापतिपदावली, सं० ७७। [3] सुंदर। [4] उसे। [5]गौर से देखने से—विद्यापति-पदावली, सं० १५। [6]स्वीकार कर लें। [7] उसे। [8] जो स्वीकार कर लिया जाए उसे कभी अनुचित न समझना चाहिए—विद्या-पतिपदावली, सं० २३७। [9]उस से। [10] विद्यापतिपदावली, सं० १२५। [11]करे। [12] उसे। [13] विद्यापतिपदावली, सं० २३४।

[14] खीर=दूध। [15]विद्यापतिपदावली, सं० ९९८। [16]सच्चा।

रतन तेजि न किनए काँच[1]।

६८—जेहन विरह हो तेहन सिनेह[2]।

६९—जञों जग जीविअ नवओ निधि मील[3]।

७०—झरक[4] पानि डोभक[5] कोँइ[6],

गरव उपजू जाहि।

भने 'विद्यापति' दहक[7] कमल

दूसए चाहए ताहि[8]॥

७१—ढाकि रहय न अपजस वासि[9]।

७२—तत[10] करिअ जत फावए चोरि[11]।

७३—तह्निकाँ सतत तोहर पर थाव[12],

---

[1] विद्यापतिपदावली, सं० ५१०। [2] जितना अधिक विरह होगा उतना ही अधिक प्रेम भी होगा—विद्यापतिपदावली, सं० ६९८। [3] संसार में जीते रहने पर वहुत धन और आनंद मिलता है—विद्यापतिपदावली, सं० ६६६। इसी वात को किसी संस्कृत के कवि ने कहा है—'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्' तथा 'एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि' (वाल्मीकीय रामायण, सुन्दरकांड)। [4]झरना। [5]छोटे-छोटे तालाव। [6]कुमुदिनी का फूल। [7] झील। [8]विद्यापतिपदावली, सं० २१६। [9]दुर्यश को कोई छिपा नहीं सकता—विद्यापतिपदावली, १२२। [10]उतना ही। [11]विद्यापतिपदावली, सं० २६१। [12]विश्वास।

जनि निरधन मन कतए न धाव[1]।

७४—तर सूते गढ़ि काट कुम्हार[2]।

७५—तिल आध[3] दुख जनम भरि सुख,
इथे[4] लागि[5] धनि कि होइअ विमुख[6]।

७६—थोरि सलिले तुअ न जाव पिआस[7]।

७७—दहइत कनक दिगुन होए मूल[8]।

७८—दिन दिन आगे सखि! अइसनि होएवह,
घोसिनि[9] घोर क मूले[10]।

७९—दूध क माँछी दूती भेलि[11]।

---

[1]तुम्हारे ऊपर उसे इतना विश्वास है कि उस का मन कहीं दूसरे जगह नहीं जाता, जैसे दरिद्र का मन कहीं नहीं जाता—विद्यापतिपदावली, सं० १०१। [2]कुम्हार बर्तन गढ़ कर उस के नीचे से अर्थात् चुपके से सूत ले कर उसे काट देता है—विद्यापतिपदावली, सं० ४५७। [3]क्षण भर। [4]इस। [5]लिए। [6]विद्यापतिपदावली, सं० ३१७। [7]विद्यापतिपदावली, सं० १६६ [8]विद्यापतिपदावली, सं० ६५ [9]गोप की स्त्री। [10]हे सखी! अहीरनी के घोल के समान रोज तुम्हारा मूल्य घटता ही जाएगा—विद्यापतिपदावली, सं० ६१। [11]जिस प्रकार दूध में गिर पड़ी हुई मक्खी को लोग निकाल कर बाहर फेंक देते हैं और फिर उस दूध को पी लेते हैं उसी प्रकार इस दूती को दूर ही हटा देंगे और इस से कोई कार्य सिद्ध नहीं होगा। अर्थात् यह दूती दूध की मक्खी की तरह दूर ही हटा देने के योग्य है—विद्यापतिपदावली, सं० ५१६।

८०—दूधे पटाइअ सीचिअ नीत,[1]
सहज न तेजए करइला तीत,[2]।
८१—दूरहि रहब तेँ अरथि होए[3]।
८२—देखह लोक हे! अइसनि जोए[4],
मनुस उपरि कइसे माउगि[5] होए[6]।
८३—देहरि न झोअए हाथे झपाए[7]।
८४—धएले रतन अधिक मुल होए[8]।
८५—धके[9] कि केओ कुअ डूब विपाक[10]।
८६—धनिक क आदर सब तहँ होअ[11]।
८७—नख छेदन के[12] लाव कुठार[13]।

[1] नित्य। [2]विद्यापतिपदावली, सं० ४३१। [3] दूर ही रहने से आदर होता है—विद्यापतिपदावली, सं० १२६। [4] ज़बर्दस्ती (?)। [5] स्त्री। [6] स्त्री कहीं पुरुष के ऊपर रह सकती है! ऐसी ज़बर्दस्ती लोगों ने कहीं देखी है!—विद्यापतिपदावली (महेशवानी), पृ० ५१८ (नगेंद्रनाथगुप्त संस्करण)। [7]बड़ी चीज़ को छोटी सी चीज़ से कभी छिपा नहीं सकते—विद्यापतिपदावली, सं० ४४१। [8] रत्न जितने दिन सुरक्षित रक्खा जाए उतना ही उस का मूल्य अधिक होता है—विद्यापतिपदावली, सं० १२६। [9] धकेलने से। [10]सहसा कोई क्या कुएँ में गिर कर विपत्ति में पड़ना है!—विद्यापतिपदावली, सं० १३६। [11] विद्यापतिपदावली, सं० ६६६। [12]कौन। [13]नख काटने के लिए कौन कुल्हाड़ी लाता है—विद्यापतिपदावली, सं० ३८६।

८८—न पूरे अलप धन दारिद पिआस[1]।

८९—नागर से जे हिताहित जान[2]।

९०—निरधन काँ जओ धन किछु हो,
करए चाहए उछाह[3]।

९१—पर क वेदन पर बाँटि न लेइ[4]।

९२—पर दुखे दुखी नहिँ कोइ[5]।

९३—पर धने माँग वेआज[6]।

९४—परबोध न माने जनि बाल भुअङ्ग[7]।

९५—परसन रस लए न रहिअ अगोरि[8]।

९६—पलटल डीठि[9] सून भेल ठाम[10]

९७—पंडित गुनि जन दुःख अपार,
अछय परम सुख मूढ़ गमार[11]।

---

[1] विद्यापतिपदावली, सं० १६८। [2] विद्यापतिपदावली, सं० १६२। [3] विद्यापतिपदावली, सं० २१६। [4] विद्यापति-पदावली, ६३। [5] विद्यापतिपदावली, सं० ३५। [6] दूसरे के धन के ऊपर लोग व्याज मांगते हैं—विद्यापतिपदावली, सं० ७४। [7] वह कहना इस प्रकार नहीं मानता जैसे छोटा विषैला साँप—विद्यापति-पदावली, सं० १५४। [8] फिर से रस मिलेगा इस की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए—विद्यापतिपदावली, सं० २६१। [9] दृष्टि। [10] दृष्टि से हटते ही कुछ नही—विद्यापतिपदावली, सं० ७३। [11] ज्ञानी ही को अत्यंत दुःख होता है और मूर्ख को परम सुख होता है—विद्यापतिपदावली, सं० ४३३।

९८—पहुक ने करि अपमान[1]।

९९—पाइअ ठाम बइसले न निधि[2]।

१००—पानि तैल नहिँ निविड पिरीत[3]।

१०१—पिउत[4] कुगया[5] गोमुख लाए[6]।

१०२—पिपिडी काँ जओ पाँखि जनमए,
अनल करए झपान[7]।

१०३—पीठ आलिङ्गने कत सुख पाव,
पानि क पिआस दुधे किअ जाव[8]।

१०४—पुन फले गुनमति पिअ मन जाग[9]।

१०५—पुरुष क कपटी प्रीति[10]।

१०६—पुरुषक चञ्चल सहज सोभाव[11]।

---

[1] मिथिला-गीतसंग्रह, भाग ३, पृ० ८। [2]बैठे ही किसी को खजाना नहीं मिल जाता है—विद्यापतिपदावली, सं० २३४, २३७। [3] पानी और तेल में पूर्ण घनिष्ठ प्रेम नहीं है—विद्यापतिपदावली, सं० ३९१। [4] पीता है। [5] कुत्सित ग्रामीण लोग। [6] गाय के समान—विद्यापतिपदावली, सं० १३३। [7] चिउँटिओं को जब पंख होते है तब आग मे कूदती है—विद्यापतिपदावली, सं० २१९। [8] विद्यापतिपदावली, सं० ५६३। [9] पुण्य के बल के कारण ही गुणवती स्त्री स्वामी के मन में रहती है—विद्यापतिपदावली, पृ० ८२। [10] मिथिलागीतसंग्रह, भाग १, पृ० ६-७। [11] विद्यापतिपदावली, सं० ४४।

१०७—पुरुष न जानए नारि दुख सजनी गे !
केवल अपन सुख चाह[1]।

१०८—पुरुष नहिँ परमान रे[2]।

१०९—पूव पछिम नहिँ जान[3]।

११०—प्रेम करबि जब सुपुरुष जानि[4]।

१११—फाब चोरि जओं चेतन चोर[5]।

११२—बड़ अपराध मौन पए साध[6]।

११३—बड़ क कहिनि बड़ि दुर जाए[7]।

११४—बड़ पुने गुनमति पुनमत पावे[8]।

११५—बड़ पुने रसवति मिलए रसवन्त[9]।

११६—बड़ेओ भूखल नहिँ दुहु कओरे खाए[10]।

---

[1]मिथिला-गीतसंग्रह, भाग १, पृ० १३। [2]पुरुष विश्वसनीय नहीं है—मिथिला गीतसंग्रह, भाग १, पृ० ३९। [3] वह बड़ी भोली-भाली है—विद्यापतिपदावली, सं० २२१। [4] वह सत्पुरुष है यह जान कर उस से प्रेम करना—विद्यापतिपदावली, सं० ६५। [5] विद्यापतिपदावली, सं० २५९। [6] बहुत बड़ा अपराध करने पर अपराधी को चुप रहना चाहिए—विद्यापतिपदावली, सं० ३३६। [7]बड़े आदमी जो कहते हैं वह कथन बहुत दूर तक फैल जाता है—विद्यापतिपदावली, सं० ४८०। [8] विद्यापतिपदावली, सं० १२। [9] विद्यापतिपदावली, सं० १०६। [10]बहुत भूख लगने पर भी दोनों हाथ से लोग नहीं खाते—विद्यापतिपदावली, सं० १४६। संस्कृत के किसी कवि ने भी ऐसा कहा है—'बुभुक्षितः किं द्विकरेण भुंक्ते'।

११७—वा (वे ?) धल हरिन न छाड़ ठाम[1]।

११८—बोललि बोल पलटि नहिँ आवे[2]।

११९—भमरा भरे माँजरि न भाँगे[3]।

१२०—भल जन न कर विरस परिणाम[4]।

१२१—भल पओलेहि अलपहि कर तोस[5]।

१२२—भिन भिन राज भिन वेवहार[6]।

१२३—भुजङ्गिनि दंसि पुनहि यदि दंसय,
तवहि समय विष जाहे[7]।

१२४—भेक[8] न पिवए कुसुम मकरन्द[9]।

---

[1] वाण से विद्ध हरिण अपने स्थान से नहीं हटता—विद्यापतिपदावली, सं० ८२। [2] कही बात लौट कर नहीं आती—विद्यापतिपदावली, सं० ४६१। [3] भ्रमर के भार से आम की मंजरी कभी नहीं टूटती—विद्यापतिपदावली, सं० १४३-१४४। इसी बात को विद्यापति की आश्रयदात्री रानी लखिमा ठकुराइनि ने किसी समय कहा था—'दृष्टा काचित् भ्रमरभरतो मंजरी भज्यमाना'। [4] अच्छे आदमी कभी ऐसा काम नहीं होने देते जिस से परिणाम में बुरा हो—विद्यापतिपदावली, सं० १६५। [5] अच्छी चीज़ मिलने पर थोड़े ही में संतोष हो जाता है—विद्यापतिपदावली, सं० १३३। [6] विद्यापतिपदावली, सं० ५। [7] जिस स्थान पर साँप ने डँसा हो उसी स्थान पर यदि फिर से वह डँस ले तो उसी समय वह विष दूर हो जाता है—विद्यापतिपदावली, सं० ६०। [8] मेढक। [9] वि० प०, सं० ४३१।

१२५—मेलि निम सनि तीत[1]।

१२६—माणि कादव[2] लेपटाए रे,

तएँ की हुनक गुन जाए रे[3]।

१२७—मधुक मातल उडए न पारे[4]।

१२८—मन्त्र न सुनए जनि बाल भुजंग[5]।

१२९—मँगले कानट[6] के नहिँ पाब[7]।

१३०—माणिक परल कुबनिक हाथ[8]।

१३१—मातल करि नहिँ अंकुस मान[9]।

१३२—मारिअ नागर उबर गमारा[10]।

१३३—मुरुछल जीवय चुरु एक पानी[11]।

---

[1] विद्यापतिपदावली, सं० ६४४। [2] कीचड़। [3]मणि यदि कीचड़ में भी लिपट जाए तब भी उस का गुण नष्ट नहीं[4] होता। [4]मधु पी कर मस्त भ्रमर कहीं और नहीं जा सकता—विद्यापतिपदावली, सं० १२। [5]विद्यापतिपदावली, सं० २१३। [6]जीर्ण, टूटे हुऐ टुकड़े=तुच्छ वस्तु। [7] विद्यापतिपदावली, सं० १०१। [8]मूर्ख बनिये के हाथ मणि पड़ गया है—विद्यापतिपदावली, सं० १९८। [9]मस्त हाथी महावत के अंकुश से भी नहीं डरता—विद्यापतिपदावली, सं० १६८। [10]चतुर तो मारे जाते हैं; लेकिन मूर्ख बच जाते हैं—विद्यापतिपदावली, सं० ४८। [11]मूर्च्छित मनुष्य एक चुल्लू भर भी पानी से ज्ञान में आ जाता है—विद्यापतिपदावली, सं० ६५०।

१३४—मूर भाँगल सन कएलह सिनेह[1]।

१३५—मूल राख वनिजारा[2]।

१३६—मुन्दलाँ मुकुलँ कतए मकरन्द[3]

१३७—रस बुझ रसमन्ता[4]।

१३८—रूसल बओसव बड़ परेआस[5]।

१३९—रोगि करए जइसे औषध पान[6]।

१४०—रोपि न काटिअ विषहुक गाछ[7]।

१४१—लाभ क लागि मूल डुबि गेल[8]।

१४२—लोभे अधिक मूल न मार[9]।

---

[1]मूली को तोड़ने से जिस प्रकार वह वेलस टूट जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे प्रेम में भी कुछ सरसता नहीं है, अर्थात् जब चाहे तब वह टूट जाएगा और फिर कभी नहीं जुटेगा —विद्यापतिपदावली, सं० ४४६। [2]वाणिज्य करने वाला मूल धन की रक्षा करता है—विद्यापतिपदावली, सं० १४५, १८०। [3]मूँदी हुई कली में रस कहाँ मिल सकता है—विद्यापतिविशुद्ध-पदावली, सं० ४४। [4] विद्यापतिपदावली, सं० ५२। [5]रूठे हुए को मनाना बड़ा कठिन होता है—विद्यापतिपदावली, सं० ४६१। [6]विद्यापतिपदावली, सं० १६८। [7]विद्यापतिपदावली' सं० ४७६—संस्कृत के किसी कवि ने भी ऐसा कहा है—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'। [8]विद्यापतिपदावली, सं०४२३। [9]विद्यापतिपदावली, सं० १८०।

१४३—बस बथान[1] सालि दुह गाए,
तंह्नि की बिलसब नागरि पाए[2]।

१४४—वानर कण्ठे की मोतिम[3] हार[4]

१४५—वानर मुँह की सोभए पान[5]।

१४६—बास[6] न पावए माँग उपाति[7],
लोभ क रासि पुरुष थिक जाति[8]।

१४७—बासि[9] कुसुम किए गाँथए माल[10]।

१४८—बिनु अवसर हठ रस नहिँ आव,
फुलला फुल मधुकर मधु पाव[11]।

१४९—बिनु दुख सुख ककरहु नहिँ होए[12]।

१५०—विनु पहु जीवन की थिक सजनी गे !
ई थिक परम अभाग[13]।

---

[1] गोशाला। [2] जो गोशाले में रहते हैं और गाय दुहना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं, ऐसे मनुष्य चतुर स्त्री को पाकर क्या विलास करेंगे—विद्यापतिपदावली, सं० २१८-१९। [3] मोती का। [4] विद्यापतिपदावली, सं० १९८। [5] वही। [6] रहने को। [7] भोजन सामग्री। [8] विद्यापतिपदावली, सं० २१७। [9] बासी। [10] विद्यापतिपदावली, सं० ३९६। [11] खिले हुए ही फूलों में भ्रमर मधु पाता है—विद्यापतिपदावली, सं० २०४। [12] विद्यापतिपदावली, सं० १३७। [13] मिथिलागीतसंग्रह, भाग १, पृष्ठ १०।

१५१—विपति[1] चिन्हिअ भल मन्दा[2] ।

१५२—विरह बिसर जञो सूतिअ निन्द[3] ।

१५३—विसम कुसुमसर काहु[4] जनु लागु[5]

१५४—विसरए चाह विसरि नहिँ होइ[6] ।

१५५—सकल काज हम बुझल बुझाएल,
न बुझल अन्तर नारि[7] ।

१५६—सकल कंठे नहिँ कोकिल वानि[8] ।

१५७—सकल पुरुष नारि नहिँ गुनवन्त[9] ।

१५८—सकल समय नहिँ रीतु वसंत[10] ।

१५९—सगरा जगत सवहुकाँए[11] सुनिअ,
घरनि[12] क बोल नहिँ टारे[13] ।

१६०—सब फुल मधु मधुर नहिँ[14] ।

१६१—सव सञो वड थिक आँखिक लाज[15] ।

---

[1]विपत्ति में । [2]विद्यापतिपदावली, सं० ७२८ । [3]अच्छी तरह सोने पर ही विरहजन्य खेद भूला जा सकता है—विद्यापतिपदावली, सं० ७६ । [4]किसी को । [5]विद्यापतिपदावली, सं० ४६ । [6]विद्यापतिपदावली, सं० ८३ । [7]विद्यापतिपदावली, सं० ६५ । [8]विद्यापतिपदावली, सं० ६५ । [9]वही । [10]सभी समय वसंतकाल नहीं होता—विद्यापतिपदावली, सं० १३७ । [11]सबसे । [12]गृहिणी=स्त्री । [13]विद्यापतिपदावली (महेशवानी) पृ० ५१८ (नगेंद्रनाथ गुप्त संस्करण) । [14]विद्यापतिपदावली, सं ६७ । [15]विद्यापतिपदावली, सं० १५१ ।

१६२—सब तह गानिअ अधिक वेबहार[1]।

१६३—सब परदेसिआ एके सोभाव[2]।

१६४—समय क दोषे आगि वम[3] पानि[4]।

१६५—समय गेले मेघे बरिसब,
कीदहु तेँ जलधार[5]।

१६६—समय नहिँ बुझत अचतुर चोर[6]।

१६७—साँकर[7] खाइते भाँगए दाँत[8]।

१६८—साहस न करिअ संसय ठाम[9]।

१६९—साहसे साहिअ[10] असाधे[11]।

१७०—सिआर काँ जओ सीँग जनमए,
गिरि उपारए चाह[12]।

१७१—शिथिल विलम्बेँ होएत हास[13]।

[1] वेद, शास्त्र, पुराण तथा धर्मशास्त्र इन सवों से प्रवल 'व्यवहार' माना जाता है—विद्यापतिपदावली, सं० ४४१। [2] स्वभाव—विद्यापतिपदावली; सं० ७१२। [3] उद्गिरण करता है। [4]विद्यापतिपदावली, सं० ३५०। [5]विद्यापतिपदावली, सं० ६४४। [6] विद्यापतिपदावली, सं० २६। [7]शक्कर। [8]विद्यापतिपदावली, सं० ४८१। [9] विद्यापतिपदावली, सं० १६८। [10] साधन करे। [11]विद्यापतिपदावली, सं० २४२। [12]विद्यापतिपदावली सं० २१६। [13] विना किसी कारण यदि किसी कार्य में विलंब किया जाए तो उस से उपहास होता है—विद्यापतिपदावली, सं० २४०।

१७२—सीत समापले वसन पाइअ,
तेँ दहु[1] की[2] उपकार[3]।

१७३—सुखल सारि जओँ नीर पटाविअ,
अवसर काल काज किछु आवए[4]।

१७४—सुजन क प्रेम हेम समतूल,
दहइत-कनक दिगुन होए मूल[5]।

१७५—सुपुरुष कबहु न तेजह नेह[6]।

१७६—सुपुरुष कवहु न होएत नदाने[7]।

१७७—सुपुरुष प्रेम कवहु नहिँ छाड[8]।

१७८—सुपुरुष वचन पखान[9] क रेह[10]।

१७९—सुपुरुष विलसय से वरनारि[11]।

१८०—सुहित वचन राखब हिअ आनि[12]।

१८१—से अति नागर[13] तोँओ[14] तस [15]तूल,
एक नले गाँथ दुइ जन फूल[16]।

---

[1]उस से। [2]कौन। [3]विद्यापतिपदावली, सं० ६४४। [4]मिथिला गीतसंग्रह, भाग २, पृ० ६। [5]विद्यापतिपदावली, सं० ६५। [6]विद्यापतिपदावली, सं० ६४७। [7]विद्यापतिपदावली सं० ३७। [8]विद्यापतिपदावली, सं० १०६। [9]पाषाण=पत्थर। [10]रेखा—विद्यापतिपदावली, सं० २३६। [11]विद्यापतिपदावली, सं० ८। [12]विद्यापतिपदावली, सं० १२६। [13]चतुर। [14]तुम। [15]उस के। [16]विद्यापतिपदावली, सं० ८०।

१८२—से नहिँ विचल जकर जे जाति[1]।

१८३—हठ कएले पहु हो रस भंग[2]।

१८४—हठ नहिँ करबे आइति[3] पाए[4]।

१८५—हठे कि होइअ समुद पार[5]।

१८६—हम तह[6] के विषहु आगर[7],

ढोँढहु[8] काँ थिक भान[9]।

१८७—हम नहिँ बुझिअ रस तीत की मीठ[10]।

१८८—हरखे सबए सोहाए[11]।

१८९—हाथक काँगन[12] अरसी[13] काज[14]।

---

[1] जिस की जो जाति होती है उस से वह कभी नहीं हटता—विद्यापतिपदावली, सं० ५१२। [2] विद्यापतिपदावली, सं० २६१। [3]आयत्ति। [4] आयत्ति पाकर हठ नहीं करूँगा—विद्यापतिपदावली सं० १४६। [5]विद्यापतिपदावली, सं० ३१६। [6]से। [7]अग्र=श्रेष्ठ। [8] एक प्रकार का सर्प। इस साँप में प्रायः विष नहीं सा रहता है। [9]ढोंढ साँप को भी इस का अभिमान रहता है कि मुझ से विष में कौन श्रेष्ठ है—विद्यापतिपदावली, सं० २१६।

[10] रस का स्वाद मैं नहीं जानती हूँ—विद्यापतिपदावली, सं० १६५। [11] हर्ष में सभी अच्छे लगते हैं—विद्यापतिपदावली, सं० १०४। [12] कँगना। [13] शीशा। [14] विद्यापतिपदावली, सं० ४४८।

१९०—हाथि महते[1] नव[2] के नहिँ जान।

१९१—हाथे न मेट पखान क रेहा।

१९२—हृदय क कपटी वचने पिआर,

अपने रसे उकट (फटए)[3] कुसिआर[4]।

विद्यापति की धार्मिक-सांप्रदायिकता

इस ग्रन्थ को समाप्त करने के पूर्व विद्यापति के धार्मिक संप्रदाय तथा उनकी कविताओं की भाषा के संबंध में भी बहुत सक्षेप मे कुछ कह देना आवश्यक समझता हूँ। उनके संप्रदाय के संबन्ध मे इतना कहना आवश्यक है कि मैथिल लोग अनादि काल से शाक्त, वैष्णव तथा, शैव तीनों होते आए हैं। शक्ति की उपासना से वे शाक्त कहलाते हैं। ये लोग दश महाविद्या के मन्त्र से दीक्षित होते हैं और प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ कुल-देवता के रूप में शक्ति की स्थापना होती है। 'दुर्गा सप्तशती' तथा 'देवीभागवत' पुराण का पाठ करना इनकी पूजा का अंग है। इसी लिए ये लोग लाल रंग का तिलक अपने ललाट पर लगाते हैं तथा लालवस्त्र पहनना शुभ समझते हैं। जो गृहस्थ किसी कारण से किसी 'देव' के मन्त्र से दीक्षित होते हैं तथा उसी देव की उपासना करते हैं वे भी शाक्त कहलाते हैं क्यो कि अन्य प्रकार से वे शक्ति की भी उपासना करते ही हैं। विद्यापति ने दुर्गा की स्तुति मे शक्ति

---

[1]महाउत से। [2]झुकता है। [3]विद्यापतिपदावली, सं० २३०। [4]हाथ से पत्थर की रेखा नहीं मिटती है—विद्यापतिपदावली, सं० ४५९। [5]प्रिय। [6]फट जाता है। [7]ऊख अपने ही रस से फट जाता है—विद्यापतिपदावली, सं० ५१२।

की उपासना अनेक प्रकार से की है और उनके घर में कुल-देवता भी शक्ति ही थीं। 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' तथा 'तन्त्रार्णव' ये दोनों उनके शाक्त ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणमात्र मिथिला में शालग्राम-शिला का पूजन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। प्रत्येक शुभ कार्य करने के पूर्व विष्णु की पूजा करना उनका प्रथम कर्त्तव्य होता है। यहाँ तक कि श्राद्धादि पितृकर्मों में भी शालग्रामशिला को साक्षीरूप में अपने सामने रखना उनके लिए आवश्यक है। इसी लिए तुलसी वृक्ष प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ लगाया जाता है। सभी ब्राह्मण श्रीखण्डचन्दन से ललाट पर ऊर्ध्वपुण्ड्र करते हैं। विद्यापति ने इन बातों के अतिरिक्त श्रीमद्भागवतपुराण की प्रति अपने हाथ से मैथिलाक्षर में लिखकर विष्णु के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति का परिचय दिया था। अपने कुछ पदों में भी इन्होंने विष्णु की स्तुति की है। ये सब होते हुए भी मोक्ष ही तो चरमध्येय सब का है और मोक्षदाता तो पुनः शिव ही हैं। यह विश्वास कर मिथिलावासियों ने शिव का भजन और पूजन करना अपना परम आदर्श माना है। नित्य पार्थिवलिंग का पूजन प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ होता ही है। विद्वानलोग तो स्वयं प्रातः और सायं काल में प्रदोष के समय में शिवलिंग का पूजन करते ही हैं। ललाट, बाहु तथा अन्य अंगों में भी भस्म लगाना उनका नित्यका कर्त्तव्य है। शिव की स्तुति करना तो प्रत्येक बालक भी जानते हैं। किसी प्रकार की विपत्ति आने पर लाखों पार्थिवलिंग का पूजन करने से कल्याण मिलता है यह उनका विश्वास है। उचित समय पर वृष्टि न होने से लाखों पार्थिवलिंग का पूजन ये सब करते हैं और सफलमनोरथ भी होते हैं। धनसम्पन्न होने पर शिवलिंग की स्थापना करना ये लोग अपना मुख्य उद्देश्य समझते हैं। विद्यापति ने

शिव के परम भक्त थे। 'शैवसर्वस्वसार' आदि ग्रन्थ इनके शैव होने के साधक हैं। इन की नचारियाँ और महेशवानियाँ गाकर लोग अपने को भूल जाते हैं और अलौकिक आनन्द को प्राप्त करते हैं। कौन सा ऐसा गाँव मिथिला में है जहाँ कि एक दो शिव के मन्दिर न हो। मृतकों की, चिता के पास मे शिवमन्दिर बनवाना भी एक प्रकार का व्यवहार होगया है। विद्यापति के चिता के पास ही में 'विद्यापतिनाथ' नाम के शिवलिंग स्थापित हैं, जिन्हे अभी भी लोग पूजते हैं।

इस प्रकार शक्ति, विष्णु और शिव तीनो को एक ही अनादि पर ब्रह्म के भिन्न-भिन्न स्वरूप जानते हुए मिथिलावासिओं ने इन में अभेद बुद्धि प्राप्त करली है। एक प्रकार से इन में परस्पर विरोध देख पडता है किन्तु तत्त्वैक-दृष्टिवालो के लिए इस में तो कोई भी विरोध नहीं है। शिव और शक्ति के अभेद को कौन नही मानते। विद्यापति ने 'भल हर भल हरि तुअ कला' इत्यादि पदो में हरि और हर के अभेद को स्पष्ट ही कर दिया है। इस प्रकार तत्त्वदृष्टि को ध्यान में रखते हुए मैथिल लोग एक साथ इन तीनो देवताओं की पूजा करते आए हैं। इस में कभी भी इन्हे किसी प्रकार का विरोध नहीं मालूम पडता है। इस लिए, मिथिला में संकुचित साम्प्रदायिकता का कोई भी स्थान नहीं है। कोई भी किसी को पूजन करने के लिए किसी प्रकार आक्षेप नहीं करते और आक्षेप करने का कोई कारण भी नही है। इस उदारता का कारण एक मात्र मैथिलों का तत्त्वज्ञानी होना है। ये लोग शास्त्र के मर्मको जानते थे तथा अपने व्यवहार में भी उसी का अनुसरण करते थे। विद्वानों के इन विचारों का प्रभाव शूद्रों पर भी मिथिला में सब तरह से पड़ा था और अभी भी है। यही वास्तविक धार्मिक संप्रदायका स्वरूप मिथिला में रहा

है। विद्यापति ने भी औरों की तरह इसे ही अनुकरण किया था। बाहर और भीतर एक ही प्रकार की साम्प्रदायिकता मैथिलों में रहा है।

विद्यापति की भाषा

विद्यापति की कविताओं की भाषा के संबंध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि यह बॅगला नही है, और न यह हिंदी ही है। पूर्वीय भाषाओं की मूल-भाषा मागधी है। इसी के क्रमिक विकास से चार शाखाएँ उत्पन्न हुई —

१—**पूर्व-दक्षिणीय शाखा**—जिस में केवल उड़िया भाषा ली जाए।
२—**उत्तर-पूर्वीय शाखा**—जिस में केवल आसामी ली जाए।
३—**मध्य-शाखा**—जिस में मैथिली, मगही तथा बगाली ली जाए
४—**पश्चिमीय शाखा**—जिस में केवल भोजपुरी ली जाए।

इसी में मैथिली का भी एक स्वतत्र स्थान है। इस भाषा की लेखन-प्रणाली तथा उच्चारण से यह स्पष्ट मालूम होता है कि यह भाषा हिंदी और बँगला की मध्यवर्तिनी भाषा है। इस के शब्दों का उच्चारण न तो बिलकुल चपटा (हिंदी की तरह) न तो बिल्कुल गोलाकार (बॅगला की तरह) होता है। इस के क्रियापद भी अत्यंत भिन्न होते हैं, तथा कारकों के चिह्न भी हिंदी से अत्यत भिन्न होते हैं। मैथिली में सानुनासिक और अर्धचंद्र का तथा विशेषकर 'ञ' का प्रयोग अत्यंत प्रचलित है। इस के सर्वनाम इत्यादि विशेष कर पाली तथा प्राकृत ही से मिलते-जुलते हैं। इन कारणों से यह स्पष्ट है कि मैथली एक स्वतंत्र भाषा है। इन्हीं बातों को ले कर पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस भाषा को स्वतंत्र स्थान दें रक्खा है। इसी मैथिली भाषा मे कविवर विद्यापति ने अपनी 'पदावली' की रचना की है।[1]

---

[1] इस के संबंध में पाठक 'मैथिली-साहित्य-परिषद्' के घोंघड़-रिआ (दरभंगा) वाले अधिवेशन का मेरा भाषण; महामहोपाध्याय जयदेवमिश्र-स्मृति-ग्रन्थावली में प्रकाशित 'कृष्णजन्म' (द्वितीय

विद्यापति का संस्कृत-विषय का पांडित्य

अब यहाँ एक प्रश्न मन में आता है, कि क्या कारण था कि विद्यापति भाषा-कवि होते हुए भी संस्कृत भाषा के इतने बड़े विद्वान हुए? आजकल या पूर्व समय में भी मिथिला को छोड़ अन्य प्रांतों के भाषा-कवियों ने केवल प्रांतीय भाषा ही में अपनी रचना की। संस्कृत भाषा की तरफ उनकी दृष्टि नहीं गई। इस के उत्तर में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

१—मैंने पहले ही कहा है कि विद्यापति के जीवन का अधिक अंश मैथिल राजाओं के साथ व्यतीत हुआ। राजदरबार में, विशेष कर मिथिला में, श्रौत, स्मार्त तथा दैशिक आचार और व्यवहार का विचार सर्वदा होता ही आया है। इस लिए धर्मशास्त्र की चर्चा तथा नाना प्रकार के धार्मिक निबंधों की रचना जितनी मिथिला में हुई है तथा अभी भी होती है उतनी प्रायः और किसी भी एक प्रदेश में नहीं। अतएव जो कोई राज-पंडित हुआ है उसे अगत्या धार्मिक विचारों का आलोचन करना ही पड़ा है। विद्यापति भी राजपंडित की हैसियत से मिथिला के राजाओं के दरबार में रहते थे। इस लिए उन्हें संस्कृत में ग्रंथ लिखने पड़े और उसी भाषा की प्रधानता की उन्हों ने भी रक्षा की।

२—मिथिला में जितने राजा हुए हैं प्रायः सभी स्वयं संस्कृत के बड़े

संस्करण) की भूमिका, 'हिंदुस्तानी' में प्रकाशित मैथिली-साहित्य (१०९७–१९००) वाले लेखों को तथा डाक्टर श्रीजयकान्तमिश्र, एम्०ए०, डी०फिल्० के 'मैथिली लिटरेचर' नाम के ग्रन्थ को देखें।

अच्छे विद्वान थे। इस लिए उन के राजपंडितों को भी संस्कृत भाषा की चर्चा तथा उसी भाषा में शास्त्रीय विचारों को निबद्ध करने का उत्साह रहता था।

२—वैदिक काल से ले कर मिथिला भारतीय सस्कृति का एक स्वतंत्र केंद्र रहा है। इस के आचार, व्यवहार तथा शास्त्रीय दृष्टि सभी वैदिक काल ही से स्वतत्र चले आ रहे हैं। संस्कृत भाषा में ग्रंथों की रचना करने मे भारतीय अपना गौरव समझते आए हैं। यह गौरव मिथिला में और भी अधिक बढ़ा आ था इस का कारण यह था कि बौद्ध लोगों के समय मे 'मगह', जो कि मिथिला से मिला हुआ था, बौद्ध मत का केंद्र हुआ। अपना स्वातंत्र्य स्थिर रखने के लिए बौद्ध लोगों ने पाली भाषाओं को उन्नत करना ही अपना एक प्रधान अंग समझ रक्खा था। बौद्ध लोगों को नास्तिक तथा भारतीय सस्कृति का विपक्षी मानते हुए अपनी प्राचीन संस्कृति के गौरव को अधिक ऊँचा रखने के निमित्त संस्कृत भाषा के विशेष प्रचार को स्थायी रखने तथा उसी भाषा द्वारा अपने धार्मिक विपक्षिओं के पक्ष को नीचा दिखाने के निमित्त मिथिला के विद्वान् सदा से उद्यत रहे हैं। इसी कारण संस्कृत-भाषा, मीमासाशास्त्र तथा न्यायशास्त्र एवं धर्मशास्त्र की जितनी प्रधानता मिथिला में रही है उतनी और किसी अन्य प्रदेश में नहीं। ये बौद्धों के विरुद्ध न केवल मिथिला ही की संस्कृति की रक्षा में सहायक हुए प्रत्युत समस्त सनातनधर्मानुयायिओं की तथा वर्णाश्रमधर्म की रक्षा में भी। वैदिक काल में मिथिला में इन की स्थिति थी ही, यह तो वेद तथा उपनिषदों से प्रमाणित होता है, तथा बाद को बौद्धो के समय में परस्पर ईर्ष्यावश इन की और भी वृद्धि हुई। क्रमशः ये स्वाभाविक रूप में परिणत हो गए और

मैथिलों ने संस्कृत भाषा ही को प्रधान बनाना तथा उस की उन्नति करना अपना कर्त्तव्य समझा। इसी लिए अभी भी एक प्रदेश में संस्कृत भाषा के समर्थक विद्वान् मिथिला में जितने मिलेंगे प्रायः उतने अन्यत्र नहीं।

यही कारण था कि विद्यापति के समय में भी चारो तरफ मिथिला में अनेक धुरंधर विद्वान् थे और सभी ने नाना विषयो के ऊपर संस्कृत भाषा में ग्रंथ लिखे और उन्हे अपने छात्रो को पढ़ाया। कहा जाता है कि महाराज भैरवसिंह के समय में तारसराय,' 'अवध-तिरहुत' रेलवे स्टेशन के समीप 'जरहटिया' नामक ग्राम में जब राजा ने पुष्करिणी याग किया था तो उस यज्ञ में १४०० केवल मीमांसकों ही को निमंत्रण दिया गया था, जिस सभा का वर्णन उसी समय के किसी कवि ने किया था और जिस की एक मात्र पंक्ति मुझे स्मरण है—

भादिक भादिक भादिकभा, 'भैरव' भूपति देव सभा॥

—के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों के विद्वानों की तो गणना ही क्या हो सकती थी। यह भी यज्ञ विद्यापति के समय में ही हुआ था। इन सभी विद्वानों के ग्रंथों की खोज तो अभी हुई ही नहीं है; इस लिए हमे विद्यापति के समकालीन सब पंडितो के नाम तक नहीं मालूम हैं। तथापि कुछ ऐसे भी विद्वान थे जिनके नाम तथा ग्रथ बहुत प्रसिद्ध हैं; उन्हे मैं अति संक्षेप में यहाँ लिखता हूँ।

महाराज कीर्तिसिंह (१३७१ ईस्वी) के समय में 'वाणीभूषण' नामक छंदोग्रंथ के कर्त्ता दीर्घ-घोष कुलोत्पन्न मैथिल विद्वान् दामोदरमिश्र[1]।

[1] (क) कीर्त्तिसिंहनृपजीवयावदमृतद्युतितरणी—वाणीभूषण,

'चिंतामणि-आलोक', 'प्रसन्नराघव' आदि ग्रंथों के कर्त्ता जयदेवमिश्र उपनाम पक्षधरमिश्र तो विद्यापति के सहाध्यायी ही थे। इसी पक्षधरमिश्र के भतीजे वासुदेवमिश्र थे जिन्होंने 'न्यायसिद्धांतसार' नामक ग्रंथ रचना की थी[1]। 'एकाग्निदानपद्धति' आदि अनेक ग्रथो के रचयिता आवसथिक श्रीदत्त मिश्र[2] तथा इनके भतीजे 'ज्योतिप्प्रदीपांकुर' आदि ग्रंथ के रचयिता मधुसूदन-मिश्र राजा देवसिंह के समय में थे।[3] इसके बाद देवसिंह के प्रधान न्यायाध्यक्ष हरिहरमिश्र के पौत्र, तथा रुद्रशर्म्मा के पुत्र 'शुद्धिनिबंध' आदि ग्रन्थों के कर्त्ता मुरारिमिश्र हुए। बाद को वाचस्पतिमिश्र (द्वितीय), वटेश्वरझा 'मुद्राराक्षस' के टीकाकर्त्ता, मीमांसक भवनाथमिश्र तथा उनके पुत्र प्रसिद्ध नैयायिक शंकरमिश्र, प्रसिद्ध चंडेश्वरठक्कुर के वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र महामहोपाध्याय जगद्धरठाकुर, शिवसिंह के मंत्री अच्युतठाकुर तथा उनके पु 'काव्यदर्पण' के कर्त्ता रत्नपाणि तथा 'काव्यप्रकाश' टीकाकर्त्ता रविठाकुर थे। महाराज भैरवसिंह के समय में तो कितने प्रसिद्ध विद्वान् मिथिला मे हुए इस

श्लोक ८८। (ख) इतिश्रीमैथिलदीर्घघोषकुलोद्भूतदामोदरविरचितं वाणीभूषणम्; 'हिस्ट्री आव् तिरहुत', पृ० १२५

[1] इतिश्रीन्यायसिद्धान्तसाराभिज्ञमिश्रवर्यपक्षधरमिश्रभ्रातृपुत्र-वासुदेवविरचितायां चिन्तामणिटीकायाम्—इंडिया आफ़िस क्यॅटलॅग, सं० ७८६, पृ० ६३१-२

[2] इति महामहोपाध्यायमिश्रश्रीनगेश्वरात्मजावसथिक.. महामहोपाध्यायश्रीश्रीदत्त—'हिस्ट्री आव् तिरहुत', पृ० १७१

[3] इंडिया आफ़िस् क्यॅटलॅग, सं० ३००४, पृ० १०६६; 'हिस्ट्री आव् तिरहुत', पृ० १७१

की गणना नहीं हो सकती है। मीमांसक ही एक समय १४०० गिने गए थे। तथापि ये नाम प्रसिद्ध हैं—'अनर्घराघव' टीकाकर्त्ता छत्रकर, 'विवादचन्द्रादि' के कर्त्ता मिसरूमिश्र, पद्मनाभदत्त, रुचिपति, रुद्रधर, वर्धमान, इत्यादि। इन के बाद रुचिपति के पुत्र धनपति तथा इंद्रपति, लक्ष्मीपति, मुरारिमिश्र तथा श्रीराम इत्यादि के नाम आते हैं। इन सबों के ग्रंथ विशेष रूप से अनेक स्थानों में मिलते हैं। इस लिए ये प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार जब मिथिला संस्कृत के विद्वानों से व्याप्त थी उसी समय विद्यापतिठाकुर भी वर्त्तमान थे। इनके ऊपर भी समय तथा देश का प्रभाव पूरे तौर पर पड़ा और यह बुद्धिमान् तथा योग्य विद्वान् तो थे ही इस लिए इन्होंने भी संस्कृत के अनेक ग्रंथ लिखे जिन का वर्णन ऊपर हो चुका है। देश की ऐसी अवस्था में कौन ऐसा मनुष्य हो सकता था जो कि योग्य होते हुए संस्कृत भाषा में निपुण न हो। अतएव प्रधानतः विद्यापति भी संस्कृत के ही पंडित थे, किंतु राजा तथा सभासदों को प्रसन्न करने के लिए एवं अपने आश्रयदाताओं के मन बहलाने के लिए मैथिली भाषा में भी इन्होंने कविताएँ रचीं। इनके पदों में संस्कृत साहित्य की छाप पद पद पर देख पड़ती है, यहाँ तक कि यदि संस्कृत न जानने वाला उनको पढ़े तो पूरा पूरा आनन्द नहीं उठा सकता है और न ठीक से उन्हे समझ ही सकता है।

विद्यापति-साहित्य

विद्यापति के पदों के बङ्गला, मैथिली और हिन्दी कई संस्करण उपलब्ध हैं। सब से उत्तम संस्करण (बंगीय साहित्य-परिषद् से प्रकाशित) नगेन्द्रनाथगुप्त ही का है यद्यपि उसमें बहुत से अन्यकवियों की भी कविताओं

का संकलन हुआ है। नगेन्द्रनाथगुप्त का संस्करण अप्राप्य है परन्तु उसका परिवर्धित संस्करण अमूल्यचद्र विद्याभूषण और श्रीखगेन्द्रनाथमित्र द्वारा प्रकाशित है। कीर्त्तिलता का बंगीय संस्करण म०म०हरप्रसादशास्त्री द्वारा प्रकाशित हुआ था परन्तु वह अब अप्राप्य हो गया है।

मैथिली में मैथिली-साहित्य-परिषद्, दरभगा से प्रकाशित 'विद्यापति विशुद्ध-पदावली' तथा काशी से म० म० बालकृष्णमिश्रका संस्करण प्रामाणिक है। मिथिलागीतसग्रह (चारो भाग), महेशवानीसंग्रह और ग्रिअर्सन का विद्यापति पद-संग्रह अन्य प्रामाणिक मैथिल संग्रह हैं। श्रीबलदेवमिश्र, श्रीरमानाथझा और श्रीजयकान्तमिश्र की खोज अभी अप्रकाशित हैं। हिन्दी मे बेनीपुरी का सग्रह सस्ते दामों मे कुमार गंगानन्दसिंह द्वारा संशोधित होकर पुस्तकभंडार पटना से मिलता है। आरा से नागरी प्रचारणी सभा ने भी पूर्व में एक संस्करण निकाला था परन्तु उसकी प्रति प्रायः अप्राप्य है। प्रयाग से इंडियन प्रेस ने कीर्त्तिलता और पदावली निकाला था परंतु वे भी प्रायः अप्राप्य हैं।

विद्यापति पर निम्नलिखित लेख और पुस्तक उपादेय हैं—

१—महाकविविद्यापति—लेखक शिवनन्दनठाकुर (पुस्तकभडार, पटना)

२—विद्यापति काव्यालोक—लेखक श्रीनरेन्द्रनाथदासविद्यालङ्कार (पुस्तकभंडार, पटना)

३—ग्रिअर्सन—मैथिली क्रिस्टोमैथी (J R A S B 1880—2, Special number)

४—ग्रीम्स—Vidyapati and his Contemporaries (Indian Antiquary 1872, 1875)

५—श्रीरमानाथझा—विद्यापति ठाकुरक वंश ("मिहिर", दरभंगा)

६—श्रीरमानाथझा—की विद्यापति वैष्णव छलाह ? (मै० सा० परिषद्, दरभंगा "गद्यसंग्रह")

७—श्रीरमानाथझा—विद्यापतिक हस्तलिखित भागवत ("भारती", दरभंगा)

८—श्रीजयकान्तमिश्र—The Nightingale of Mithila

९—श्रीजयकान्तमिश्र—The Fame of Vidyapati

१०—डा०श्रीविमानबिहारीमजुमदार—The Bhanitas in Vidyapati's padas (J. B O R S XXVIII, Part IV)

११—डा० श्रीजनार्दनमिश्र-विद्यापति (रामनरायनलाल एण्ड सन्स, प्रयाग)

१२.—Prof. Dinesh Chandra Bhattacharyya, Chinsura—A Tanrtic Work of Vidyapati (J.G.J.R.I, Vol. VI)

विद्यापति का वंशवृत्त